

## पंचम श्लोक याय

रामकृष्ण परमहंस एवं उसके दाशीनक सिद्धान्त  
ईश्वर सम्बन्धी विचार,  
कृता रवाद, जीवन का स्वरूप,  
मुक्ति विषयक विचार,  
माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ।  
सन्दर्भ ।

विदेशानन्द एवं उनके दाशीनक सिद्धान्त  
शास्त्र प्रमाणवाद,  
ईश्वर विषयक मान्यताएं  
बाप्ता सम्बन्धी दृष्टिकोण,  
माया सम्बन्धी विचार, सूषिट, प्रक्रिया,  
भारतीय दाशीनक चिन्तन के विविध सौपान  
सन्दर्भ ।

### रामकृष्ण परमहंस-

आधुनिक भारत में सांस्कृतिक पुनरुन्नयम तथा सामाजिक नवजागरण में स्वामी विकेकानन्द का प्रादुर्भाव सांस्कृतिक विकास- क्रम की उस अवस्था विशेष का प्रतीक है, जिसमें सांस्कृतिक पुनरुन्नयन तथा सामाजिक नवजागरण एक और वेदों से प्रेरित था। और दूसरी और पुराणों से, जिसमें एक और ज्ञानमागीं परम्पराएं जट्टेलित हो रही थीं तो दूसरी और रहस्यवादी भक्ति की परम्पराएं। राजा राममोहन राय ने हिन्दूत्व तथा हिन्दू समाज को ब्रह्म समाज में बदलकर उसे औपनिषदिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया, दयानन्द ने हिन्दू समाज को आर्यसमाज में बदल कर उसे वैदिक मत पर आधारित करने का प्रयास किया। किन्तु विकेकानन्द ने उस हिन्दूत्व का पक्ष लिया जिसका प्रतिपादन वेदों, उपनिषदों पुराणों और विभिन्न पंथों तथा सम्प्रदायों में हुआ है। जिस राष्ट्रवादिता का बीज वपन राजा राममोहन राय ने किया, जिसे हिन्दू संस्कृति की और दयानन्द ने मोड़ा, उसी के जयघोष के लिए विकेकानन्द ने भारतीयों का ब्रह्मवान किया। किन्तु विकेकानन्द के विचारों में प्रवाहित अद्वेती रहस्यवादिता, प्रपत्ति, अपिग्राही वृत्ति, शक्ति वाद तथा संन्यासवृत्ति न तो आर्यसमाज की देन है और न ब्रह्म समाज की। वह देन है रामकृष्ण परमहंस की जो राजा राममोहन राय, दयानन्द और विकेकानन्द के बीच मैं चलने वाले विकास- क्रम की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। रामकृष्ण परमहंस के ही प्रभाव से केशवचन्द्र सेन रहस्यवादिता की और मुड़े थे और उसी प्रभाव के कारण ब्रह्मसमाज की ज्ञानवादी परम्परा में भक्तिवाद का पृष्ठ आया था किन्तु, रामकृष्ण परमहंस के वास्तविक उत्तराधिकारी विकेकानन्द हैं और इस कारण, ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के बीच मैं रामकृष्ण परमहंस जिस विकासक्रम के फूलीक हैं, उसका विश्लेषण यहाँ अपेक्षित है।

### जीवन- परिचय-

भारत के पुनर्जागरण को बाध्यात्मक आधार पर प्रभावित करने का प्राथमिक श्रेय स्वामी रामकृष्ण परमहंस को प्राप्त है जो ईश्वर के प्रेम से

उन्मत्त महात्मा थे । वे जनसाधारण की कोटि से बाने वाले, निधनि, अशिक्षित, भौले स्वभाव से युक्त और सादा जीवन व्यक्तित करने वाले महापुरुष थे जिनकी विराट बाध्यात्मक शक्ति ने तत्सामयिक बंगाल को झकझोर दिया था । उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं और दैनंदिन, उपदेश उनके प्रशंसकों और शिष्यों द्वारा संकलित कर लिए गए हैं ।

श्री रामकृष्ण का जन्म बंगाल के हुगली प्रान्त के कामारपुर गांव में एक ऐठ ब्राह्मण परिवार में श्वाब्द 1757 फाल्गुन मास की शुक्ल पक्ष द्वितीया तदनुसार ब्रह्मवार ता । 17 फरवरी 1836 ई० को हुआ । इनके पिता श्री क्षदि राम चटजी परम संतोषी, सत्यनिष्ठ एवम् त्यागी पुरुष थे और इन की माता श्री चन्द्रामणि देवी सरलता तथा दयालुता की मूर्ति थी । इनके माता-पिता परम्परावादी थे ।

बचपन में श्री रामकृष्ण का नाम गदाधर था । अन्य बालकों की भाँति वे भी पाठ्याला भेजे गए । इनकी स्मरण शक्ति तेज थी लेकिन इनका ज्ञाव स्कूल की शिक्षा की ओर न था । प्रारम्भ से ही धार्मिक पुस्तकों तथा गाथाओं में इनकी विशेष रुचि थी । जब रामकृष्ण की आयु सत्रह वर्ष की थी तभी इनके पिता को मृत्यु हो गई जिसके परिणाम स्वरूप वे कलकत्ता में अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ रहने लगे और उनके पौराहित्य कार्य में उनकी सहायता करने लगे । कलकत्ता में उन्होंने एक दो स्थानों पर पूजन का कार्य किया । इसी अवसर पर रानी रासमणि ने कलकत्ता से लगभग पांच मील दूर, उत्तर में हुगली नदी के किनारे पर दक्षिणेश्वर में एक मन्दिर बनवाया और श्री काली देवी की स्थापना की । 31 मई 1855 को इसी मंदिर में श्री रामकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम कुमार जी काली-मंदिर के पूजारी पद पर नियुक्त हुए, परन्तु यह कार्य भार शीघ्र ही श्री रामकृष्ण पर आ पड़ा । यहीं से रामकृष्ण ने अपनी वह साधना प्रारम्भ की जिसके कारण वे भारत के महान् सहज ज्ञानी साधु सन्तों तथा साधकों को श्रेष्ठी में आते हैं । दक्षिणेश्वर में ही रामकृष्ण

अद्वैय की अनुभूति और उसके साक्षात्कार की ओर ग़्रासर हुए । यहीं उन्होंने सर्वप्रथम काली की साध्यना आरम्भ की । काली के भजन गाते तथा प्रार्थना और ध्यान करते हुए वे समाधिस्थ अवस्था में मूर्ति के सामने घण्टों बैठे रहते और अपने अस्तत्व को भी भूल जाते । अपनी इस साध्यना से जैसा कि कहा जाता है, उन्हें काली के दर्शन भी हुए । श्री रामकृष्ण के परिवार के सदस्य उनकी इस अवस्था से यह समझने लगे कि उन्हें कोई मानसिक विकार हो गया है । किसी ने इनका विवाह करने को सलाह दी और ज्यरामबाटी ग्राम में रहने वाले श्री रामचन्द्र मुख्योपाध्याय की कन्या श्री शारदा मणि से इनका विवाह करवा दिया गया । किन्तु वैवाहिक बन्धन उन्हें सांसारिकता की ओर आकृष्ट न कर सका । विवाह के बाद, वह पुनः दक्षिणेश्वर लोट आए और तप तथा योग साध्यना में लीन हो गए ।

दक्षिणेश्वर में इनका संयोग एक वैष्णवी तांत्रिक योगिनी से हुआ जिससे उन्होंने तांत्रिक योग के अभ्यास की दीक्षा नी । अद्वैत वैदान्त का ज्ञान और योगाभ्यास का साधन उन्हें प्रसिद्ध महात्मा तोतापुरी से प्राप्त हुआ । तोतापुरी से संन्यास की दीक्षा लेने के बाद वे अपने पूर्व नाम गदाधर का परित्याग कर रामकृष्ण कहलाने लगे, दीक्षा के समय तोतापुरी ने उनके घर, सम्पत्ति, जाति, आभूषण, सांसारिक कार्य और विवाह का परित्याग करने की शंपथ ग्रहण कराई थी । उनकी पत्नी शारदा देवी उनके साथ पत्नी नहीं अपितु उनकी शिष्या के रूप में रहीं । योगाभ्यास द्वारा उन्हें बहुत शीघ्र निर्विकल्पक समाधि की उच्च गति प्राप्त हुई जिसको देखकर स्वयं तोतापुरी को बड़ा आश्चर्य हुआ । योगसाध्यना द्वारा उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म अपितु इस्लाम और ईसाई धर्मों के आदर्शों का भी साक्षात्कार किया और मुहम्मद साहब एवं ईसा मसीह के दर्शन किए । कभी वे साध्यारण व्यक्ति दिखलाई पड़े थे और कभी ऐसे सिद्ध पुरुष कि जिनको जात्यर्थमान आत्मा से निकलती हुई लपटें राम, कृष्ण, शिव, काली आदि का रूप धारण करती हुई दिखलाई देती

थीं।<sup>2</sup> बाध्यात्मिक साधना के द्वारा स्वामी रामकृष्ण इस निष्कर्ष पर पहुचे कि कृष्ण, राम, शिव, काली, अल्लाह एक ही परमात्मा के विभिन्न नाम हैं और सब धर्मों की साधना एक लक्ष्य की ओर जाती है।

रामकृष्ण, एक और शाकत और तांत्रिक थे, और दूसरी ओर अद्वैतवेदान्ती। शाकत तथा अद्वैत परम्पराओं का समन्वय ही रामकृष्ण की क्लोष्टता है, यही उनकी शक्ति है। यही शक्ति विवेकानन्द की शक्ति है और इसी के कारण रामकृष्ण ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के सुधारवादी प्रणेताओं से भिन्न एक ऐसे महापूरुष हैं जो सांख्यिक जन जीवन के अधिक समीप हैं।<sup>3</sup>

रामकृष्ण ने न तो किसी पन्थ की स्थापना की ओर न किसी समाज की। वे इस रूप में एक बौद्धिक सुधारक भी न थे जिस रूप में राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और दयानन्द थे। केशव चन्द्र सेन अंग्रेजी के नए ढंग के विद्वान् थे और दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्भट पण्डित। ब्रह्मसमाजी और आर्यसमाजी नेता बुद्धिवादी धार्मिक सामाजिक सुधारक थे। किन्तु, रामकृष्ण परमहंस एक अनुभूतिवादी साधक हैं। उनका कहना है, "शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ से परे हैं। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है, वह ईश्वरमय है। फिर तकों से क्या फायदा? बगीचों में तुम आम खाने जाते हो, न कि पेड़ों के पत्तों को गिनने। फिर मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्यों चलता है।"<sup>4</sup>

संन्यास- द्वृत को निभाने के लिए ही रामकृष्ण ने गृहिणी और गृह-त्याग किया था। किन्तु, इस त्याग में विमुक्ति का भाव नहीं था। वह एक ऐसे संन्यासी हुए जो जीवन पर्यन्त अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे और कभी भी विधिवत् गृहत्याग नहीं किया। सिद्धावस्था प्राप्त होने पर भी वे अपने गांव गए और अपने परिवार के साथ वैसे ही रहे जैसे एक गृहस्थ रहता है। इतना होते हुए भी वे वैवाहिक गृह- सम्बन्धों में नहीं छीड़ी। उनका उपदेश यह था कि नर- नारी एक दूसरे से अलग रहकर ही अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

सांसारिकता और इन तथा वैभव का त्याग रामकृष्ण ने दम और अस्तेय के नियमों को निभाने के लिए किया और इस्का प्रभाव तत्कालीन शिक्षित वर्ग की उस भौतिकतावादी वृत्ति पर पड़ा जो यूरोपीय प्रश्नाव के कारण बढ़ रही थी। ऐसा कहा जाता है कि साधना से रामकृष्ण ने अपने शरीर को इतना शुद्ध कर लिया था कि सांसारिकता के सर्व मात्र से ही उसमें प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होने लगती थीं। जोने चाँदी और रूपए-पेसे का सर्व उनके लिए अलहनीय था। एक बार परीक्षा के लिए स्वामी विक्रान्त ने उनके बिस्तर के नीचे एक रूपया रख दिया और कहा जाता है कि रामकृष्ण उस पर बैठते ही छटपटा कर ऐसे उठ छेड़ द्यए जैसे विच्छू ने ऊं मार दिया हो। रामकृष्ण के जीवन के ये दृष्टान्त इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार रामकृष्ण ने पश्चिमी भौतिकतावाद के विरुद्ध छेड़ होने का प्रयास किया और किस प्रकार बढ़ते हुए भौतिकतावाद के समक्ष उन्होंने त्याग और तपस्या के आदर्श को प्रतिपादित करने का प्रयास किया।<sup>5</sup>

ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज दोनों आन्दोलनों के प्रणेता मूर्तिपूजा के विरोधी थे, किन्तु रामकृष्ण को मूर्तिपूजा में कोई दोष नजर नहीं आया। उनके अनुसार, प्रतिमा को देखकर ईश्वर की वैसे ही याद आती है जैसे क्वील को देखते ही अदालत की याद आती है। वह मूलतः शाक्त थे और अद्वैत वेदान्त की दीक्षा लेकर भी वह शाक्त ही रहे और वह भी उस समय जब ब्रह्म समाज तथा आर्यसमाज शाक्त परम्पराओं को वाममार्गी कहकर उनकी भत्सना कर रहे थे।

भारत के पुनरुन्नयन में रामकृष्ण का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने हिन्दूत्व के किसी पक्ष विशेष का समर्थन नहीं किया। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दूत्व का पक्ष लिया- वह हिन्दूत्व जिसमें वैदिक दर्शन भी है और पौराणिक गाथाएं भी, जिसमें मूर्तिपूजा भी है और निराकारी ईश्वरवाद भी, जिसमें

अनुष्ठान भी हैं और ब्रत- उपवास तथा तीर्थयात्रा भी, जिसमें आगम भी हैं और निगम भी, जिसमें सांसारिकता भी है और संन्यास तथा त्याग भी, रामकृष्ण ने जो भी हिन्दू था, उसी को अपनाया और उसी का पक्ष लिया। रामकृष्ण के साथ- साथ परम्परावादी हिन्दू पुनरुन्नयन प्रारम्भ हुआ और सम्पूर्ण हिन्दूत्व का पक्ष लिया जाने लगा। किन्तु, रामकृष्ण को कोरा परम्परावादी कहना भूल होगी। परम्परा के मार्ग पर चले हुए भी, वे नए प्रवाहों की ओर सजग थे।<sup>6</sup> यही कारण है कि अशिक्षित होते हुए भी उन्होंने शिक्षितों को प्रभावित किया। रामकृष्ण के गुरुओं के कारण ही तत्कालीन बड़े बड़े तार्किक और विद्वान् उन्हें धेरे रहते थे। नास्तिकों को उन्होंने बास्तिकता की ओर उन्मुख किया और भौतिकतावादियों को आध्यात्मिकता की ओर। उनके इस प्रभाव का कारण था उनका सहज सिद्धों का सा व्यवहार, जिसके कि वह आगार थे। उनकी सहज सिद्ध उक्तियों के कारण ही, तत्कालीन शिक्षित वर्ग पर उन का प्रभाव पड़ा। उन्होंने विषय- प्रतिपादन तथा उपदेश की उसी शैली को अपनाया जो भारत के साधु- सन्तों की शैली रही है और जो सहज ही बड़े मार्मिक ढंग से प्रतिपादित विषय को दूसरे तरफ पहुंचा देती है।

#### रामकृष्ण के दाश्चिन्तक सिद्धान्त-

#### ईश्वर सम्बन्धी विचार-

भारतीय दर्शनों का मुख्य लक्ष्य तत्त्व का ज्ञान कराना है। संसार क्या है, इसकी उत्पत्ति, सृष्टि एवम् संहार कैसे होता है। प्रलय के बाद क्या अवशिष्ट रहता है। क्या कोई इसके पीछे शक्ति भी है, आदि प्रश्नों का समाधान विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है। सभी दर्शनों में ब्रह्म की सत्ता किसी न किसी रूप में मानी गई है। उपनिषदों में प्रतिपादित परम सत्य परम तत्त्व को "ब्रह्म" कहा गया है और ब्रह्म के सर्वतो तथा निर्गुण दो भेद बताए

गए हैं। निर्गुण ब्रह्म "परब्रह्म" है जो सच्चदानन्द स्वरूप, निरूपाधि और अनिर्वचनीय है। सगुण ब्रह्म को "अपर ब्रह्म" कहा गया है। यह विश्व का सृजक, पालक, संहारक, सोपाधि और कर्णनीय है।

रामकृष्ण परमहंस ने ईश्वर के स्वरूप का इस प्रकार से वर्णन किया है। उनका कहना है कि ईश्वर साकार और निराकार दोनों हैं। "भक्तों के लिए ईश्वर साकार हैं। जो ज्ञानी हैं- संसार को जिन्होंने स्वप्नवत् मान लिया है, उनके लिए वे निराकार हैं। भक्त का विश्वास है कि मैं एक पृथक् सत्ता हूँ तथा संसार एक पृथक् सत्ता, इसलिए भक्त के निकट ईश्वर "व्यक्ति-<sup>१</sup> Personal God <sup>२</sup>" के रूप में आते हैं। ज्ञानी- जैसे वेदान्तवादी सिर्फ "नेति-नेति" विचार करता है। विचार करने पर उसे यह भासित होता है कि मैं मिथ्या हूँ, संसार भी मिथ्या स्वप्नवत् है। ज्ञानी ब्रह्म को बोध रूप देखता है, परन्तु वे क्या हैं, यह मुँह से नहीं कहा जा सकता।<sup>३</sup>

ईश्वर के सगुण स्वरूप के विषय में श्री रामकृष्ण आगे कहते हैं कि भक्तों के लिए सगुण ब्रह्म हैं अर्थात् वे सगुण अर्थात् मनुष्य के रूप में दर्शन देते हैं। प्रार्थनाओं के सुनने वाले वही हैं। तुम लोग जो प्रार्थना करते हो वह उन्होंने से करते हो। तुम लोग न वेदान्तवादी हो, न ज्ञानी, तुम लोग भक्त हो, साकार रूप मानो चाहे न मानो इसमें कछु हानि नहीं, केवल यह ज्ञान रहने ही से काम होगा कि ईश्वर एक वह व्यक्ति है जो प्रार्थनाओं को सुनते हैं, सृजन, पालन और प्रबन्ध करते हैं, जिनमें अनन्त शक्ति है। भक्ति मार्ग से ही वे जल्दी मिलते हैं।<sup>२</sup> जो मनुष्य सर्वदा ईश्वर चिन्तन करता है, वही जान सकता है कि उनका स्वरूप क्या है। वही जानता है कि वे अनेकानेक रूपों में दर्शन देते हैं- अनेक भावों में देख पड़ते हैं- वे सगुण हैं और निर्गुणी, भी। कबीर कहते थे- निराकार मेरा पिता है और साकार मेरी माँ।<sup>३</sup>

रामकृष्ण ने ईश्वर के साकार रूप को जलराशि से निकलते हुए बुलबुले के समान बताया है। महाकाश- चिदाकाश से एक- एक रूप आविर्भूत होते हुए

दीखे पड़ते हैं। उपनिषद् ब्रह्म को "नेति नेति" शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? प्रत्येक क्षेय उद्देश्य के क्षेत्र को सीमित करता है- वह उसका स्वभाव होता है। "यह लेखनी लाल है" इस वाक्य में "लाल" यह क्षेय उद्देश्य [लेखनी] के क्षेत्र को वस्तुतः सीमित करता है। अर्थात् "लाल" से पृथक् क्षेत्र में लेखनी का कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। ब्रह्म के विषय में हम किसी क्षेय का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से वह सीमित तथा परिमित बन जाएगा, वह वस्तुतः अपरिमित सत्ता है। इस प्रकार उसमें कोई गुण नहीं रहता, न यह गुण वहाँ है और न ही वह गुण। इस प्रकार जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति "नेति नेति" शब्दों का व्यवहार करती है वह ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही है। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है। इसी प्रकार के विचार श्री रामकृष्ण ने ईश्वर के निर्गुण स्वरूप की चर्चा करते हुए व्यक्त किए हैं। "मैं कौन हूँ इसकी दृढ़ तलाश करने के लिए चलो तो उन्हीं के निकट जाना पड़ता है। क्या मैं माँस हूँ? या हाड़, रक्त या मज्जा हूँ? मन या बुद्धि हूँ? अन्त मैं विचार करते हुए देखा जाता है कि मैं यह सब कुछ नहीं हूँ। "नेति नेति"। आत्मा वह चीज नहीं कि पकड़ मैं आ जाए। वह निर्गुण-निरूपात्मि है।<sup>4</sup>

सच्चिदानन्द को अनन्त जलराशि मानते हुए रामकृष्ण ने ब्राह्मों के लिए जल और बर्फ की उपमा दी है। "महासागर का जल ठाड़े देश में स्थान स्थान पर जिस प्रकार बर्फ का बाकार धारण कर लेता है उसी प्रकार भी वक्त रूपी ठाड़ से वह सच्चिदानन्द भक्त के लिए साकार रूप धारण करते हैं। शृष्टियों ने इस ऋतीन्द्रिय, चिन्मय रूप का दर्शन किया था और उनके साथ वातर्लाप किया था। भक्त के प्रेम के ज्ञान भागवती तनु<sup>5</sup> द्वारा इस चिन्मय रूप का दर्शन होता है।<sup>6</sup>

श्री रामकृष्ण ने ब्रह्म को वाणी और मन से परे बताया है "अवाङ्-मनसोगचरम्" रामकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान रूपी सूर्य के ताप से साकार बरफ गल

जाता है, ब्रह्मज्ञान के बाद, निर्विकल्प समाधि के बाद, फिर वही अनन्त, वाक्य मन के अतीत, अरूप, निराकार ब्रह्म है ।<sup>7</sup>

श्री रामकृष्ण सगुण- निर्गुण की चर्चा करते हुए आगे कहते हैं कि जब वे सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते हैं, तब हम उन्हें सगुण ब्रह्म, आद्याशक्ति कहते हैं, जब वे तीनों गुणों से अतीत हैं, तब उन्हें निर्गुण ब्रह्म, वाक्य मन के अतीत परब्रह्म कहा जाता है ।<sup>8</sup> वेदान्त में ब्रह्म का लक्षण करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म मायावच्छन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस इक्षु जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है ।<sup>9</sup>

श्रीरामकृष्ण ने ब्रह्म को निर्लेप कहा है । ईश्वर ब्रह्मविद्या और अविद्या दोनों के परे हैं, वह मायातीत है । इस जगत् में विद्या-माया और अविद्यामाया दोनों हैं, ज्ञान शक्ति भी है, और साथ ही कामिनीकांचन भी है, सद भी है और असद भी, भला भी है और बुरा भी, परन्तु ब्रह्म निर्लिप्त है । भला- बुरा जीवों के लिए है, सद असद जीवों के लिए है । इसमें ब्रह्म को कुछ हानि नहीं होती । जैसे दीप के सामने कोई भागवत पढ़ रहा है और कोई जाल रख रहा है, पर दीप निर्लिप्त है ।<sup>10</sup> ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए रामकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्म "अनिर्वचनीय", "अब्यपदेशयम्" है । ब्रह्म क्या है यह मुँह से नहीं कहा जा सकता ।<sup>11</sup>

ब्रह्म आकाश की तरह है । उनमें कोई किकार नहीं है । जैसे आग का कोई रंग नहीं है । अपनी शक्ति के द्वारा वे विविध आकार में हुए हैं । सत्त्व, रजः और तमः ये तीन गुण शक्ति ही के गुण हैं । आग में यदि सफेद रंग डाल दो तो वह सफेद दिखेगी । यदि लाल रंग डाल दो, तो वह लाल दिखेगी । ब्रह्म सत्त्व, रजः और तमः - इन तीनों गुणों से परे हैं ।<sup>12</sup> सतोगुण से पालन, रजोगुण से सृष्टि और तमोगुण से संहार होता है, परन्तु ब्रह्म सत्त्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों से परे हैं - प्रकृति से परे हैं । जहाँ यथार्थ तत्त्व है वहाँ तक गुणों की पहुँच नहीं ।<sup>13</sup>

रामकृष्ण ने उपनिषदों<sup>14</sup> का अनुकरण करते हुए "ऊं शब्द को ब्रह्म माना है। श्रूति लोग उसी शब्द को प्राप्त करते थे। सिद्ध होने पर साधक सुनता है कि नाभि से वह शब्द स्वयं ही उठ रहा है- अनाहत शब्द।<sup>15</sup>

रामकृष्ण का विचार था कि सभी धर्मों में एक उसी परम तत्त्व का वर्णन किया गया है और प्रत्येक धर्म में उसकी अपने टंग से विवेचना की गई है। वे कहते हैं कि "हिन्दू, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, ज्ञाकृत, वैष्णव, शैव, सब एक दूसरे से लड़ाई - लड़ा करते हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। जिन्हें कृष्ण कहते हो, वे ही शिव, वे ही आद्याशक्ति हैं; वे ही ईसा हैं और वे ही अल्लाह हैं। एक राम उनके हजार नाम। वस्तु एक ही है, केवल उसके नाम अलग अलग हैं। सब लोग एक ही वस्तु की चाह कर रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि देश अलग है, पात्र अलग। और नाम अलग।"<sup>16</sup> श्री रामकृष्ण का यह एकेश्वर सम्बन्धित दृष्टिकोण केद में प्रतिपादित "एकं सद् विप्रा बद्ध्या वदन्ति"<sup>17</sup> इस सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होता है। श्रृङ्खेद के इस मन्त्र में भी यही कहा गया है कि विद्वान् लोग एक ही मौलिक सत्ता या अद्यात्म तत्त्व को भिन्न भिन्न इन्द्र, मित्र और अग्नि आदि नामों से कहते हैं।

श्रीराम कृष्ण सांख्य के पूरुष व वैदान्त के ब्रह्म में कोई भेद न मानते हुए कहते हैं कि "तुम्हीं ब्रह्म हो तुम्हीं शक्ति, तुम्हीं पूरुष हो तुम्हीं प्रकृति, तुम्हीं विराट् हो तुम्हीं स्वराद् ॥ स्वतन्त्र अद्वितीय सत्ताः ॥ तुम्हीं नित्य लीलामयी, तुम्हीं ॥ सांख्य के ॥ चौबीस तत्त्व हो ॥"<sup>18</sup>

#### ब्रह्म और शक्ति अभेद-

रामकृष्ण कहते हैं कि वेदों ने जिन्हें ब्रह्म कहा है उन्हीं को मैं माँ कहकर पुकारता हूँ। जो निर्गुण हैं वे ही सगुण हैं, जो ब्रह्म हैं वे ही शक्ति हैं। जब यह बोध होता है कि वे निष्कृय हैं, तब उन्हें ब्रह्म कहता हूँ और जब यह सौचता हूँ कि वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं, तब उन्हें आद्या शक्ति काली कहता हूँ।<sup>19</sup>

"ब्रह्म" और शक्ति अभेद हैं, जैसे कि अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। अग्नि कहते ही दाहिका शक्ति का ज्ञान होता है और दाहिका शक्ति कहने से अग्नि का ज्ञान। एक को मानिए तो दूसरा भी साथ ही मान लिया जाता है। उन्हीं को भक्तजन माँ कहकर पूकारते हैं।<sup>20</sup>

रामकृष्ण इस विषय में एक और दृष्टान्त देते हैं कि "जिस प्रकार जल, Water और पानी। एक ताजाब के चार घाट हैं। हिन्दू लोग एक घाट में जल पी रहे हैं- और कहते हैं जल। मुसलमान दूसरे घाट में पी रहे हैं- कहते हैं पानी। अग्रीज लोग तीसरे घाट में पी रहे हैं और कह रहे हैं Water और कुछ लोग चौथे घाट में पी रहे हैं और कहते हैं Aqua, एक ईश्वर उनके अनेक नाम हैं। भेद केवल नामों में है। उन्हें कोई अल्ला कहता है, कोई God कहता है, कोई ब्रह्म, कोई काली, कोई "राम" हरि, ईसा, दुर्गा आदि।"<sup>21</sup>

जब तक उपाधि है, तभी तक अनेक प्रकार के बोध हो सकते हैं। पूर्ण ज्ञान होने पर एकमात्र चेतन्य का ही बोध होता है। पूर्ण ज्ञान होने पर मनुष्य देखता है, यह जीव प्रपञ्च, ये चौबीसों तत्त्व एकमात्र वही बन गए हैं।<sup>22</sup> आधाशक्ति ने ही इस जीव प्रपञ्च, इस चतुर्विशेषित तत्त्व का स्वरूप धारण किया है- अनुलोम और विलोम।<sup>23</sup>

"जो ब्रह्म है, वही आधाशक्ति भी है। जब वे निष्ठिय हैं तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं, पुरुष कहते हैं। जब सृष्टि, स्थिति, प्रलय ये सब करते हैं तब उन्हें शक्ति कहते हैं- प्रकृति कहते हैं। पुरुष और प्रकृति। जो पुरुष है, वही प्रकृति भी है। बानन्दमय और बानन्दमयी।"<sup>24</sup>

#### अवतारवाद-

श्री रामकृष्ण अवतारवाद को मानते हैं। उनका कहना है "प्रतिमा में उनका आविभाव होता है और भला मनुष्य मैं कैसे नहीं होगा। वे नरलीला करने के लिए मनुष्य रूप मैं अवतीर्ण होते हैं- जैसे श्री रामचन्द्र, श्री कृष्ण, श्री चेतन्य देव। अवतार का चिन्तन करने से ही उनका चिन्तन होता है।"<sup>25</sup>

आदमी में उनका ज्यादा प्रकाश है । अगर कहो, अवतार, कैसे सिद्ध होगा, जिनमें भूति-प्यास ये सब जीवों के धर्म हैं- सम्भव है कि उनमें रोग-शोक भी हो- तो इसका उत्तर यह है कि पञ्चभूतों के फन्दे में पञ्चर ब्रह्म रोरहे हैं ।<sup>26</sup>

द्वेताद्वैत दर्शन में भी कहा गया है कि सर्वज्ञिक्तमान् ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत् के आकार में परिणत कर, अव्याकृत-स्वरूप, शक्ति और कृति से युक्त होकर परिणत होता है, अर्थात् जिस प्रकार दूध कार्यरूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अपनी असाधारण शक्ति से युक्त परमात्मा भी जगत् के आकार में परिणत होता है ।<sup>27</sup>

आगे चलकर श्री रामकृष्ण कहते हैं कि "ज्ञानी निराकार की चिन्ता करते हैं । वे अवतार नहीं मानते । अर्जुन ने श्री कृष्ण की स्तुति में कहा, तुम पूर्ण ब्रह्म हो । श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि आओ, देखो- हम पूर्ण ब्रह्म हैं या नहीं । यह कहकर श्रीकृष्ण अर्जुन को एक जगह ले गए और पूछा, तुम क्या देखते हो ? अर्जुन बोले, मैं एक बड़ा पेड़ देख रहा हूँ जिसमें जामुन के से गुच्छे के गुच्छे फल लगे हैं । श्री कृष्ण ने आज्ञा दी थी कि और भी पास आकर देखो, वे काले फल नहीं, गुच्छे के गुच्छे अनगिनती कृष्ण फल हुए हैं- मुझ ऐसे । अर्थात् उस पूर्ण ब्रह्म रूपों कृष्ण से करोड़ों अवतार होते हैं और चले जाते हैं ।"<sup>28</sup>

श्री रामकृष्ण कबीर का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि "कबीरदास का स्वर्ण निराकार की ओर था । श्री कृष्ण की चर्चा होती तो कबीरदास कहते, उसे क्या भजूँ ? गोपियाँ तालियाँ पीटती थीं और वह बन्दर की तरह नाचता था । श्री रामकृष्ण कहते हैं कि मैं साकारवादियों के निकट साकार हूँ और निराकारवादियों के निकट निराकार ।"<sup>29</sup>

अवतार-लीला, वेद, पुराण एवं तत्त्वों का समन्वय:-

श्रीरामकृष्ण अवतारवाद, वेद, पुराणों एवम् तत्त्वों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि "अवतार लीला"- ये सब चित् शक्ति के ऐश्वर्य हैं ।

जो ब्रह्म हैं वे ही फिर राम, कृष्ण तथा शिव हैं ।<sup>30</sup>

“एक के अतिरिक्त दो कुछ भी नहीं हैं । वेद में कहा है- ऊं सच्चिदानन्द ब्रह्म, पुराण में कहा है- ऊं सच्चिदानन्दः कृष्णः, और तन्त्र में कहा है- ऊं सच्चिदानन्दः शिवः ।<sup>31</sup> “शक्ति का ही अवतार होता है । एक मत से राम और कृष्ण चिदानन्द समूद्र की दो लहरें हैं ।<sup>32</sup>

“वेदान्त मत में अवतार नहीं है । इस मत में चैतन्य देव अद्वेत के एक बुलबुला है ।<sup>33</sup> “इ भक्ति मत में अवतार मानते हैं ।<sup>34</sup>

### ईश्वर- प्राप्ति के उपाय-

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि “एक में दृढ़ रहो, या तो साकार में या निराकार में । तभी ईश्वर प्राप्ति होता है, अन्यथा नहीं । दृढ़ होने पर साकारवादी भी ईश्वर को पाएँगे और निराकारवादी भी ।<sup>35</sup> उन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग एवं ज्ञान- मार्ग दोनों को उपयुक्त ठहराया है । उनका उपदेश था कि “किसी से, किसी मत से विद्वेष नहीं करना चाहिए, निराकारवादी, साकारवादी, सभी उन्हीं की ओर जा रहे हैं, ज्ञानी, योगी, भक्त सभी उन्हें खोज रहे हैं । ज्ञानमार्ग के लोग कहते हैं - ब्रह्म, योगीगण कहते हैं आत्मा परमात्मा, भक्तगण कहते हैं- भगवान् फिर यह भी, नित्यदेव, नित्यदास ।<sup>36</sup>

ईश्वर दर्शन का उपाय बतलाते हुए रामकृष्ण कहते हैं “बीच बीच में एकान्तवास, उनका नाम, गुण-गान और वस्तु विचार करने से ईश्वर के दर्शन होते हैं । खुब व्याकुल होकर रोने से उनके दर्शन होते हैं । विषय पर विषयी की, पृथ्र पर माता की ओर पति पर सती की यह तीन प्रकार की चाह एकक्रिय होकर जब ईश्वर की ओर मुड़ती है तभी ईश्वर मिलते हैं ।<sup>37</sup>

श्रीरामकृष्ण ने वेदान्त का अनुकरण करते हुए माया को ईश्वर दर्शन में बाधक बताया है । उनका कहना है कि “कोई ईश्वर को कृपा प्राप्त करना चाहे तो ज्ञे पहले आद्याशक्ति रूपिणी महामाया को प्रसन्न करना चाहिए ।

वे संसार को मुम्भ करके सृष्टि, स्थितिओर प्रलय कर रही है। उन्होंने सबको अज्ञानी बना डाला है। वे जब द्वार से हट जाएंगी तभी जीव भीतर जा सकता है। बाहर पड़े रहने से केवल बाहरी वस्तुएं देखने को मिलती है, नित्य सच्चिदानन्द पुरुष नहीं मिलते। संसार का मूल-आधार शक्ति ही है। उस आद्या शक्ति के भीतर किंवा और अविद्या दोनों हैं- अविद्या मोहमुम्भ करती है। अविद्या वह है जिससे कामनी और कांचन उत्पन्न होते हैं, वह मुम्भ करती है, और किंवा वह है जिससे भक्ति, दया, ज्ञान और प्रेम की उत्पत्ति हुई है। वह ईश्वर - मार्ग पर ले जाती है।<sup>38</sup>

भक्ति ही सार वस्तु है। ईश्वर को प्यार करने से किवेक वैराग्य आप ही आप आ जाते हैं। श्री रामकृष्ण ने तन्त्रों में वर्णित स्त्रियों से मिलकर साधना करने का समर्थन नहीं किया। उनका कहना है कि वे सब अच्छे रास्ते नहीं, बड़े कठिन हैं, और उनसे प्रायः घतन हुआ करता है। तीन प्रकार की साधनाएँ हैं- वीर भाव को साधना बड़ी कठिन है। सन्तान भाव बड़ा शुद्ध भाव है।<sup>39</sup>

वैष्णव कहते हैं कि ईश्वर मार्ग के पथिक चार प्रकार के होते हैं - प्रवर्तक, साधक, सिद्ध और सिद्धों में सिद्ध। जो पहले ही पहल मार्ग पर आया है वह प्रवर्तक है। जो भजन पूजन, जप-द्यान, नाम, गुण कीर्तनादि करता है वह साधक है। जिसे ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव मात्र हुआ है वह सिद्ध है। उसकी वेदान्त में एक उपमा है- वह यह कि औरे धर में बाबू जी सो रहे हैं। कोई टटोलकर उन्हें खोज रहा है। कोच पर हाथ जाता है, तो वह मन ही मन कह उठता है- यह नहीं है, इरोड़ा छू जाता है तो भी कह उठता है यह नहीं है, दरवाजे में हाथ लगा तो यह भी नहीं है, नेति नेति नेति। अन्त में जब बाबू जी की देह पर हाथ लगा तो कहा- यह बाबू जी यह है, अर्थात् अस्ति का बोध हुआ। बाबू जी को प्राप्त तो किया किन्तु भजी जानपहचान नहीं हुई। एक दर्जे के और लोग हैं, जो सिद्धों में सिद्ध कहलाते हैं बाबू जी के साथ

यदि विशेष वातर्जित हो तो वह एक और ही अवस्था है, यदि ईश्वर के साथ प्रेम भक्ति द्वारा विशेष परिचय हो जाए तो दूसरी ही अवस्था हो जाती है। जो सिद्ध है उसने ईश्वर को पाया तो है, किन्तु जो सिद्धों में सिद्ध है उसका ईश्वर के साथ विशेष परिचय हो गया है।<sup>40</sup>

सच्चिदानन्द की प्राप्ति होने पर समाधि होती है। उस समय कर्म का त्याग हो जाता है। सब पन्थों से उन्हें प्राप्ति किया जा सकता है। सभी धर्म सत्य हैं। छत पर उठने से मतलब है, सो तुम पक्की सीढ़ी से भी उठ सकते हो, लकड़ी की सीढ़ी से भी उठ सकते हो।<sup>41</sup>

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि सभी धर्मों के द्वारा ईश्वर को प्राप्ति किया जा सकता है। किसी भी धर्म में कोई कुसंखार नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक धर्म के द्वारा भक्तगण एक ही ईश्वर को बुला रहे हैं। सभी धर्मों को ईश्वर प्राप्ति का उपाय बताते हुए श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि "मुझे एक बार सब धर्म करने पड़े थे - हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, इधर शाक्त, वैष्णव, वैदान्त, इन सब रास्तों से भी आना पड़ा है, ईश्वर वही एक है - उन्हीं की ओर सब चल रहे हैं, भिन्न भिन्न मार्गों से।"<sup>42</sup>

श्रीराम कृष्ण ने ईश्वर प्राप्ति के दो उपाय बताए हैं- विचार पथ और अनुराग अथवा भक्ति का मार्ग 2 "सदसद् का विचार। एकमात्र सत्य या नित्य वस्तु ईश्वर है, और सब कुछ अस्त् या अनित्य है। इन्द्रजाल दिखलाने वाला ही सत्य है, इन्द्रजाल मिथ्या है। यही विचार है।"<sup>43</sup> आगे रामकृष्ण विवेक और वैराग्य का अर्थ समझाते हुए कहते हैं "विवेक और वैराग्य। इस सदसद् विचार का नाम विवेक है। वैराग्य अर्थात् संसार की वस्तुओं से विरक्त। यह एकाएक नहीं होता- प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास योग से कामिनी- कांचन में आसक्ति का त्याग होता है - यह बात गीता में है। अभ्यास से मन में असाधारण शक्ति आ जाती है। तब इन्द्रिय संयम करने और काम- क्रोध को वश में लाने में कष्ट नहीं। उठाना पड़ा।"<sup>44</sup> दूसरा अनुराग या

भक्त का मार्ग है । व्याकुल होकर एक बार निर्जन में रोओ, अकेले में दर्शनों की प्रार्थना करो ।<sup>45</sup>

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि ईश्वर बाहर भी है, अन्दर भी है । वे भीतर से मन में अनेक प्रकार की लहरे उत्पन्न कर रहे हैं । षट्चक्र का भेद होने पर माया का राज्य छोड़, जीवात्मा- परमात्मा के साथ एक हो जाता है । इसी का नाम है ईश्वर- दर्शन ।<sup>46</sup>

यही विचार हमें वेदान्त में भी मिलते हैं । ब्रह्म साक्षात्कार वेदान्त का परम लक्ष्य है । वेदान्ती अद्वैत दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा में तादात्म्य मानते हैं । भेद तो कल्पित है, "उपाधि" के कारण है । ऊंचा "उपाधि" का नाश होते ही जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होता है और वही स्वरूप "ब्रह्म" या परमात्मा है । शांकर वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर और सभी पदार्थ अस्त् हैं । इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है । "ब्रह्म" आरोप का "ब्रह्मिष्ठान" है । माया की विक्षेपज्ञकित के कारण जो सूचिट होती है वह मायिक है, भ्रान्त है । यह आरोप "तत्त्वज्ञान" के द्वारा बाधित हो जाता है ।

श्री रामकृष्ण ने भी वेदान्त के इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि ईश्वर सत् और सब असत् इस विचार का नाम विवेक है । सत् का अर्थ है नित्य, और असत् नित्य है । जिसे विवेक हो गया है, वह जानता है, ईश्वर ही वस्तु हैं और सब अवस्तु है । विवेक के उदय होने पर ईश्वर को जानने की इच्छा होती है ।<sup>47</sup>

#### जीव का स्वरूप-

परमात्मा की सूचिट में नाना प्रकार के जीव जन्तु और पेड़-पोथे हैं । पशुओं में अच्छे हैं और बुरे भी । उनमें बाध्य जैसे हिंसु जन्तु भी हैं । पेड़ों में अमृत जैसे फल लगें ऐसे भी पेड़ हैं और विष जैसे फल हों ऐसे भी हैं । इसी प्रकार मनुष्यों में भी भले बुरे और साधु- असाधु हैं । उनमें लौसारी जीव भी हैं और भक्त भी हैं ।

श्री रामकृष्ण ने जीव को चार श्रेणियों में विभक्त किया है । "जीव चार प्रकार के होते हैं: बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य ।" नारदादि नित्य जीव हैं । ऐसे जीव बाँरों के हित के लिए, उन्हें शिक्षा देने के लिए संसार में रहते हैं ।

"बद्ध जीव विषय में फँसा रहता है । वह ईश्वर को भूल जाता है, अविच्छन्न वह कभी नहीं करता ।

"मुमुक्षु जीव वह है जो मुक्ति की इच्छा रखता है । मुमुक्षुओं में से कोई कोई मुक्त हो जाते हैं, कोई कोई नहीं हो सकते ।

"मुक्त जीव संसार के कामिनी- कांचन में नहीं फँसते, जैसे, साधु- महात्मा । इनके मत में विषय बुद्धि नहीं रहती । ये सदा ईश्वर के ही पादपदमों की चिन्ता करते हैं ।"<sup>49</sup>

श्री रामकृष्ण जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "जीव तो स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप है, परन्तु इसी माया या अहंकार से वे नाना उपाधियों में पड़े हुए अपने स्वरूप को भूल जाते गए हैं ।"<sup>50</sup>

### मुक्ति विषयक विचार-

श्री रामकृष्ण परमहंस ने मुक्ति के विषय में साँछय और वेदान्त में उपलब्ध विचारों को ही अपने ढंग से कहा है । साँछय में कहा गया है कि "पुरुष" स्वभाव से निर्लिप्त, निस्तंग, क्रियातीत और नित्य है ।<sup>1</sup> अविद्या भी नित्य है । इन दोनों का संयोग अनादि काल से है । "प्रकृति" जड़ और नित्य है । "पुरुष" के साथ- साथ "प्रकृति" का अस्तित्व अनादि काल से चला आया है । "पुरुष का बिन्दु "प्रकृति" पर पड़ा है, जिससे प्रकृति अपने को चेतन की तरह समझने लगती है । व्युत्कृष्ट रूप से बढ़ि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ा है, जिसके कारण निष्ठिय निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य पुरुष भी कर्ता, भोक्ता, आसक्त व्रतीत होने लगता है । पुरुष और प्रकृति के इसी कल्पना और

आरोपित सम्बन्ध को "बन्धन" कहते हैं। इसी बन्धन का दूर करना, पुरुष का अपने आपको पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान ही जाना ही विवेक-बुद्धि है। सांख्य के अनुसार यही मुक्ति है।

वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है।<sup>2</sup> परन्तु संसार में आते ही जीव माया के चक्कर में बन्धनमय हो जाता है। बन्धन के कारण वह अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव करता है और उसमें बहँकारादि भावना उत्पन्न हो जाती है। वह अपने चैतन्य रूप को भूल जाता है तथा कामादि बन्धनों से व्यग्र हो जाता है। परन्तु इसी माया के द्वारा "अङ्गास" उत्पन्न होता है, जिससे जीव भ्रमित होकर संसार को सत्य समझने लगता है। इस प्रकार शरीर को आत्मा मान कर वह संसार में कर्म करता है। मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष - प्राप्ति ही है जो ज्ञानोदय से सम्भव है। इस ज्ञान के लिए काम्य एवं निष्ठा दोनों कर्मों का त्याग करना ही उपयुक्त है। वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के दो साधन निर्दिष्ट हैं - बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग साधन को ही "साधन- चतुष्टय" कहा गया है। ये नित्य-नित्य वस्तुविवेक, वैराग्य, शमादिष्टक और मुमुक्षुत्व हैं। अन्तरंग साधन के अन्तर्गत श्वरण, मनन, निदिद्यासन और समाधि ये चार साधन आते हैं। इन साधनों के प्राप्ति होने पर गुरु, अङ्गारोप तथा अपवाद विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है और उसके स्वरूप का ज्ञान कराता है। अङ्गुष्ठ ब्रह्म का ज्ञान ही जाने पर जब बन्धन और उसके कार्य जगत् का नाश हो जाता है तो जगत् में विद्यमान चिन्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। उस समय ब्रह्म मात्र ही रहता है। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को ही वेदान्त में मुक्ति कहा गया है।

श्री रामकृष्ण ने सांख्य के पुरुष के समान आत्मा को शुद्ध एवम् निर्लिप्त कहा है। सांख्य में पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, जो कान् देश और कारण के बन्धनों से रहत होता है। वह निर्गुण और निष्कृत्य होता है। वह द्रष्टा-मात्र है। वह जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति की लीला को देखता हुआ

स्वर्णा साक्षी बना रहता है। श्रीरामकृष्णवचनामूल में इसी लिङ्गार को प्रकट किया गया है- "शुद्धात्मा निष्ठिय है, तीनों अवस्थाओं का साक्षीस्वरूप है। जब हम सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कायों की चिन्ता करते हैं, तभी ईश्वर को मानते हैं। शुद्धात्मा उसी तरह है जैसे दूर पड़ा हुआ चुम्बक-पत्थर, सूई हिल रही है, परन्तु चुम्बक-पत्थर चुपचाप पड़ा हुआ है- निष्ठिय है।"<sup>3</sup>

आगे श्री रामकृष्ण शुद्धात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "जो शुद्ध आत्मा है, वे निर्निष्ट है। उनमें माया या अविद्या है। इस माया के भीतर तीन गुण हैं- सत्त्व, रज, और तम,। जो शुद्ध आत्मा है, उन्हीं में ये तीनों गुण हैं, किन्तु फिर भी वे निर्निष्ट हैं। आग में अगर बासमानी रंग की बड़ी डाल दो तो उसकी शिखा उसी रंग की दीछ पड़ती है। लाल बड़ी छोड़ो तो शिखा भी लाल हो जाती है। परन्तु आग का अना कोई रंग नहीं है।" शुद्ध आत्मा निर्निष्ट है और शुद्ध आत्मा को कोई देख नहीं सकता। पानी में नमक घोला हुआ हो तो वास्त्रे नमक को देख नहीं सकती।<sup>4</sup>

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "जो शुद्धात्मा है, वही महाकारण- कारण का कारण है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण, ये इतने हैं। पाँच भूत स्थूल हैं। मन, बुद्धि और अहंकार सूक्ष्म हैं। प्रकृति अथवा आद्याशक्ति सब की कारणरूपिणी हैं। ब्रह्म या शुद्ध आत्मा कारण का कारण है। यही शुद्ध आत्मा हमारा स्वरूप है।"<sup>5</sup>

ज्ञान को व्याख्या करते हुए रामकृष्ण कहते हैं कि "इसी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना और मन को उसी में लगाए रखना- इस शुद्ध आत्मा को जानना यही ज्ञान है।"<sup>6</sup>

जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हुए श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों के मैल से निंग शरीर होता है। बछपाशों में बैंधा हुआ आत्मा जीवात्मा है।<sup>7</sup> वे अन्दर भी हैं और बाहर भी। अन्दर भी वे ही हैं। इसलिए वेद कहते हैं- तत्त्वमसि। और बाहर

भी वे ही हैं। माया से अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। परन्तु वस्तुतः हैं वे ही। इसलिए सब नामों और रूपों का वर्णन करने के पहले कहा जाता है- ऊत् तत् सत् ।<sup>8</sup>

स्वामी रामकृष्ण ने तत्त्वज्ञान का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है-

“तत्त्वज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान। तत् अर्थात् परमात्मा, त्वं अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के एक हो जाने पर तत्त्वज्ञान होता है।”<sup>9</sup>

अद्वैतवादियों के सामने भी यही प्रश्न था कि उपाधि विशिष्ट क्लेश कर्मादिकों में ब्रह्म जीव की निर्लगाधि शुद्ध- शुद्ध मुक्त, स्वभावी- ब्रह्म से एकता कैसे सिद्ध की जा सकती है। “तत्त्वमसि”<sup>10</sup> जिसकी श्री रामकृष्ण ने ऊपर चर्चा की है, इसी तत्त्व का प्रतिपादन करता है। इस महावाक्य का अर्थ है कि तत्त्वम् शुद्ध जीव तत् शुद्ध ब्रह्म हो, अर्थात् ब्रह्म और जीव की एकता है। दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। यह दोनों के अभेद का प्रतिपादक वाक्य है, परन्तु इस का अर्थ ठीक नहीं बैठता। जीव और ब्रह्म में अनेक विस्तृदधर्म हैं। जीव अन्यजन तथा अमृत है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है। इस स्थिति में दोनों की एकता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? उपनिषद् के इस वाक्य का तात्पर्य क्या है? आचार्यों का कहना है कि -आध्यवृत्ति- के द्वारा इस वाक्य के अर्थ का ओध नहीं कराया जा सकता। इसके लिए “लक्षणा” की आवश्यकता होती है। वही इस वाक्य के अर्थ को ठीक बतलाती है।

अद्वैत वेदान्त की शिक्षा का सार “तत्त्वमसि” इस महावाक्य में दिया गया है। जीव तथा ब्रह्म दोनों में पूर्ण अभेद है। यही वेदान्त की शिक्षा है। दोनों में शुद्ध चैतन्य को लेकर ही एकता मानी जाती है। इसके लिए एक उदाहरण दिया गया है। जिस देवदत्त को हमने कल देखा था, आज का यह देवदत्त वही है। यहाँ कल देखे गए देवदत्त का आज देखे गए देवदत्त के साथ अभिन्नता तथा तादात्म्य विद्यमान है। परन्तु दोनों देवदत्तों में अनेक विस्तृदधर्म भी हैं। तब दोनों में एकता कैसे सिद्ध हो सकती है? तात्कालिक और

एतत्कालिक इन दो विश्व विशेषणों को हटा देने पर दोनों की एकता सिद्ध होती है। इसी उदाहरण की सहायता से "तत्त्वमसि" का अर्थ समझा जा सकता है। "तत्" का अर्थ है- अल्पज्ञ चेतन जीव तथा "त्वम्" का अर्थ है- सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म। यहाँ अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ दोनों आपस में विश्व धर्म हैं। इन विश्व धर्मों को छोड़ देने पर केवल "चेतन्य" अंश को ही लेकर दोनों में भेद सिद्ध हो सकता है, अर्थात् चेतन आत्मा चेतन ब्रह्म दोनों एक हैं। भागवृत्ति लक्षणा के द्वारा यह एकता सिद्ध मानी जाती है।

**निष्कर्षः** अण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जब ज्ञान और उसके कार्य जगत् का नाश हो जाता है तो जगत् में किसीमान चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। उस समय केवल ब्रह्म मात्र ही रहता है। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को ही श्री रामकृष्ण ने "मुक्त" कहा है। उस समय "तत्त्वमसि" यह पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

#### माया सम्बन्धी दृष्टिकोण-

शंकर तथा रामानुज दोनों आचार्यों के द्वारा माया व्याख्यात है, परन्तु इन दोनों की माया विषयक कल्पना नितान्त भिन्न है। रामानुज के मतानुसार यह सृष्टि वास्तविक है। इसलिए वे माया को ईश्वर कीवास्तविक सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं। ईश्वर की शक्ति माया है जो इस वास्तव जगत् की रचना करती है। रामानुज के मत में ब्रह्म में भी वास्तव विकार उत्पन्न होता है। शंकर के मत में ब्रह्म में कोई वास्तविक क्रिया या परिवर्तन नहीं होता। विकार केवल प्रतिभास्ति होता है, वास्तविक नहीं। शंकर के अनुसार माया ब्रह्म के समान न तो यथार्थ है औरन्तरं पृष्ठ के समान अयथार्थ ही है, यह परमैश्वर की बीज शक्ति है, इसी बीज शक्ति को अव्यक्त कहा जाता है। यह माया परमैश्वर में आश्रित रहने वाली महासुप्तरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शंख किया करते हैं।<sup>1</sup> यह क्रियात्मका है अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों का स्वरूप है। यह ज्ञान विरोधी है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से इस माया का नाश होता है। यह भाव स्पा है।<sup>2</sup>

इस माया की दो शक्तियाँ हैं- "आवरण और विक्षेप" ।<sup>3</sup> इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढ़क कर उसमें अवस्था रूप जगत् की प्रकृति का ऊदय होता है । "आवरण शक्ति" से युक्त "अतिरिच्छ तथा "परिरिच्छ न्न" अर्थात् सीमित होने पर भी अपरिरिच्छ न्न, अलौकिक, स्वप्रकाश एवं सर्वव्यापी "आत्मा" को आच्छादित करता है, जिससे आत्मा बद्ध की तरह हो जाती है । वस्तुतः यह आत्मा को आच्छादित नहीं करती, किन्तु साधक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर देती है कि साधक आत्मा को नहीं देख पाता । जिस तरह एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा लोगों की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य मण ऊँ को देखने वाले को देखने नहीं देता ।<sup>4</sup>

इसके अतिरिक्त "बज्ञान" में एक विक्षेप शक्ति है । आवरण शक्ति से "वस्तु" या "तत्त्व" तो ढ़क जाता है, उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसके स्थान पर उस वस्तु के सम्बन्ध में नाना प्रकार की भिन्न वस्तुओं की विचित्र कल्पना की जाती है । जैसे- बज्ञान से आच्छादित रज्जु को न देखकर, उसके स्थान पर सर्प की कल्पना करना विक्षेप शक्ति के सामर्थ्य का फल है । अतः वस्तु के असली रूप को छिपा देना पहली सीढ़ी है ॥ आवरण ॥ और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना अन्तिम सीढ़ी है : ॥ विक्षेप ॥! ठीक इसी प्रकार माया भी ब्रह्म के असली रूप को ढ़क लेती है और फिर उसमें आकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है । ब्रह्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है । उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, परन्तु माया- शक्ति की कृपा से उसी से आकाश, जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि पदार्थों के उत्पन्न होने की धारणा समझ आती है । यह माया का ही विलास है तथा उसकी दोनों शक्तियों का सामूहिक व्यवसाय है ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस "माया" के सिद्धान्त को इस प्रकार कहते हैं "जीव का अर्द्धकार ही माया है । यही अर्द्धकार कूल आवरणों का कारण है । "मैं" मरा कि बला टली । यदि ईश्वर की कृपा से "मैं अकर्ता हूँ" यह ज्ञान

हो गया तो वह मनुष्य तो जीवन्मुक्त हो गया । फिर उसे कोई भय नहीं । यह माया या "बहौं" मेघ की तरह है । मेघ का एक छोटा सा ही टुकड़ा क्यों न हो, पर उससे सूर्य नहीं दीख पड़े । उसके हट जाने से ही सूर्य दीख पड़े हैं । यदि श्री गृह को कृपा से एक बार अहंबुद्धि दूर हो जाए तो फिर ईश्वर दर्शन होते हैं ।<sup>5</sup>

माया किस प्रकार ब्रह्म के वास्तविक रूप को ढक लेती है इस विषय में श्री रामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं "सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर श्रीरामचन्द्र है, जो साक्षात् ईश्वर है । बीच में सीतारूपिणी माया का पदा पड़ा हुआ है, जिसके कारण लक्षण रूपी जीव को ईश्वर के दर्शन नहीं होते । यह देखो, तुम्हारे मुंह के बागे में इस अंगोंचे की ओट करता हूँ । अब तुम मुझे नहीं देख सकते । पर हूँ मैं तुम्हारे बिल्कुल निकट । इसी तरह औरों की विषेषा भगवान् निकट है, परन्तु इस मायावरण के कारण तुम उनके दर्शन नहीं पाते ।"<sup>6</sup>

श्री रामकृष्ण के अनुसार माया की मूल अवधारणा शांकर वेदान्त के अनुकूल ही है, किन्तु उनके विवेचन की विशेषता यह है कि उन्होंने लौकिक दृष्टान्तों की सहायता लेकर इस दूर्लभ सिद्धान्त को अधिकाधिक बोध गम्य बना दिया है ।

**सम्भूतः** हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में सर्वाधिक मान्य किन्तु साथ ही दुर्लभम् शांकर बद्वैत वेदान्त को परमहंस रामकृष्ण ने सरल लौकिक दृष्टान्तों से जन जन के लिये बोध गम्य तो बनाया ही, उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना के द्वारा उसे साकार भी किया । बद्वैतानुभूति कैसी होती है, इसे न तो शारीरिक सूक्ष्मों के भाष्यकार और व्याख्याकार ही बता सके थे और न बद्वैतदर्शन की जटिलताओं को और अधिक जटिल बनाने वाले परवतीं दार्शनिक पण्डित । रामकृष्ण की भारतीय दर्शन को सबसे बड़ी देन यही है कि शास्त्रीय विवेचना पृष्ठाली से स्वयं को सर्वथा असंपूर्ण रखकर भी उन्होंने वेदान्त को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी यथार्थता का विश्वास दिलाया । सर्वोपरि बात तो यह है कि उन्होंने ही स्वामी विक्रेतानन्द जैसे शिष्य के माध्यम से वेदान्त के सर्वाही संदेश को विश्वजनीन बनाने का उपयुक्त वातावरण बना दिया ।

### रामकृष्ण परमहेंस-

1. रोमा रोलां, "दी लाइफ ऑफ रामकृष्ण", मैक्समूलर, रामकृष्ण, हिज लाइफ एण्ड सेहंग्ज, स्वामी निहिलानन्द और अनुवाद, दी गास्पल ऑफ श्री रामकृष्ण" आदि ।
2. रोमा रोला, "दी लाइफ ऑफ रामकृष्ण", पृ. 42.
3. भट्टाचार्य, विवेक : दि हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली, सॉडे मैगज़ीन जनवरी 13, 1963, पृ. 40.
4. दिनकर रामधारी सिंह वही- पृ. 489.
5. व्यास के. सी. सोशल, शिनांसां इन इण्ड्या, पृ. 97.
6. व्यास कैसी- वही- पृ. 97-89.

### ईश्वर सम्बन्ध विचार-

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रथम भाग, पृ. 140.
2. वही- पृ. 144.
3. वही- पृ. 144.
4. वही- पृ. 211.
5. नारद ने कहा, मुझे शुद्धा, सर्वमयी, भक्ति भागवती तनु प्राप्त हो गई । "प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतां तनुम् । आरब्धकमनिवारणो व्यपतत् पांचभौतिकः । श्रीमद्भागवत- १६.२९.
6. वही- पृ. 289.
7. वही- पृ. 289.
8. वही- पृ. 190.
9. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 351.
10. रामकृष्ण वचनामृत प्रथम भाग, पृ. 58.
11. वही- पृ. 58.
12. वही- पृ. 391.
13. वही- पृ. 391.

14. छन्दोम्योपनिषद् में भी ओम् इवनि का अर्थ ब्रह्म है ।  
छन्दोग्योः २०२३०४०
15. श्री रामकृष्ण वचनामृत द्वितीय भाग चतुर्थ संस्करण, पृ० ६१०
16. वही- पृ० १०१०
17. पृ० १०१६४०४६०
18. श्री रामकृष्ण वचनामृत प्रथम भाग, पृ० १०१०
19. वही- पृ० १०३
20. वही- पृ० १०५
21. वही- पृ० ७८०
22. वही- पृ० ५०८०
23. वही- पृ० ५०९०
24. वही- पृ० ५११०
25. श्री रामकृष्णवचनामृत द्वितीय भाग चतुर्थ संस्करण, पृ० ६२०
26. वही- पृ० ८६०
27. दशश्लोकी, ५०३-९, वैदान्त पारिजात सौरभ, १-४-३६०, २-१-२३०
28. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रथम भाग, पृ० ११२०
29. वही- पृ० ११२०
30. वही- पृ० ४४४०
31. पही- पृ० ४४४०
32. वही- पृ० ४०००
33. वही- पृ० ४८४०
34. वही- पृ० ४८४०
35. श्रीरामकृष्णवचनामृत द्वितीय भाग- चतुर्थ संस्करण, पृ० ४८४०
36. वही- पृ० ३०
37. श्रीरामकृष्णवचनामृत — प्रथम भाग, पृ० ११०
38. वही- पृ० ८८०
39. वही- पृ० १११०
40. वही- पृ० ८४०
41. वही- पृ० ७८०

42. वही- पृ. 112.

43. वही- पृ. 209.

44. वही- पृ. 210.

45. वही- पृ. 210.

46. वही- पृ. 346.

47. वही- पृ. 527.

48. वही- पृ. 17.

49. वही- पृ. 17.

50. वही- पृ. 185.

#### मुक्ति विषयक विचार-

1. साँ. का. 18.

2. ब्रह्म सत्यं जगि न्मध्या जीवो ब्रह्मैव नापरः । - विवेकच्छडाभगि- २०.

3. श्रीरामकृष्णवचनामृत द्वितीय भाग चतुर्थ संस्करण पृ. 553.

4. वही- पृ. 404.

5. वही- पृ. 404.

6. वही- पृ. 404.

7. श्री रामकृष्ण वचनामृत द्वितीय भाग- पृ. 405.

8. वही- पृ. 513.

9. वही- पृ. 420.

10. छ. उप. 6.०.७.

#### माया सम्बन्धी दृष्टिकोण-

1. "अविद्यां त्मका हि बीजाक्तरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वरा श्या मायामयी महासुप्तः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोध- रहिता शेरते संसारणो जीवोः ।" शारीरक भाष्य १०४०३०

- २० सेयं ग्रान्तिनीरालम्बा सर्वन्याय विरोधिनी ।  
सहते न विचारं सा तमौ यद्वद् दिवाकरम् ।
- ३० शक्तिद्वयं हि मायाया किषेपावृत्तिस्फक्तम् ।  
विक्षेपशक्तिलिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ।  
दृद्धय विवेक, वै इलोक । ३०
- ४० धनच्छन्दृष्टिर्थन्दृन्मकं यथा निष्पुर्भं मन्त्रे चातिमूढः ।  
तथा ब्रह्मवद् भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलभित्वस्वरूपोऽहमात्मा ॥  
हस्तामल्कस्तोत्र, १००
- ५० श्रीरामकृष्णवचनामृत पृ० १८५०
- ६० वही- पृ० १८५०

-----

उन्नीसवीं शती के अन्तम दो दशकों में जब बंगाल के अद्वैतवादी सन्त रामकृष्ण परमहंस ने अपनी रहस्यपूर्ण साधनाओं से कम, किन्तु सहज, सरल एवं बोधगम्य उक्तियों और दृष्टान्तों से अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया तो उनके इर्दे गिर्दे जिन ज्ञासु भक्तों की भीड़ इकट्ठी हुई उसमें एक अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति भी था, जिसे कालान्तर में संसार ने विवेकानन्द के नाम से जाना। विवेकानन्द को अद्वैतमत की दीक्षा अपने गुरु परमहंस देव से ही प्राप्त हुई, परन्तु ऐसा कि सब जानते हैं, रामकृष्ण स्वयं शास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण अपने शिष्यों को वैदान्त निरूपक ग्रन्थों से शिक्षित करने की अपेक्षा अपनी सुग्रुद्धाध्यात्मक रहस्यपूर्ण अनुभूतियों के कुहूक से ही अधिक प्रभावित करते थे। कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द तथा उनके अन्य गुरु भाइयों ने स्वतन्त्र स्प से शास्त्रभ्यास किया तथा अपने वैदान्त विषयक मन्त्रव्यों को पुष्ट किया।

स्वामी विवेकानन्द, जिनका प्रारम्भिक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था, का जन्म 12 जनवरी 1863 में कल्कत्ता के सिमुलिया मुहल्ले में दत्त परिवार में हुआ। इनके पितामह दुर्गा चरन दत्त ने अपने प्रथम पुत्र के जन्मोपरान्त ही संन्यास ले लिया था। इनके पिता श्री क्रिक्वनाथ जी प्रसिद्ध कील थे, और मातृभाषा उपरांत अंग्रेजी तथा फारसी भाषा में सुप्रिण्ड थे। माता भुवनेश्वरी देवी एक शिक्षित अभिजात्वगीर्थी महिला थी। घर से विवेकानन्द को अभिजात वगीर्थ वातावरण और परम्पराएं मिली थी। प्रारम्भ से विवेकानन्द में बहुमुखी प्रतिभा और गुण थे। कालेज में विवेकानन्द अपनी प्रुणर बुद्धि के लिए विछ्यात थे। पश्चिमी तथा भारतीय दर्शनों और भाषाओं का इन्होंने अध्ययन किया था। इन्टर आर्ट्स की परीक्षा देने से पूर्व ही इन्होंने डेस्क्रिप्टीज, हायम, हर्बर्ट स्पेन्सर, काष्ट, फिल्में, स्पिनोजा, हीगल, शोपेनहार, कॉम्प्टे और डार्विन की कृतियों का अध्ययन कर लिया था। इन सबका प्रभाव यह पड़ा कि एक और विवेकानन्द में दार्शनिक ज्ञासा का प्रस्फुटन हुआ तो दूसरी ओर जीवन की गहनतम सतह तक पहुंचने की अभिलाषा का वह अभिलाषा जो व्यक्ति को दूसर्य से अदूसर्य की ओर ले जाती है।

नास्तिक व आस्तिक दोनों मतवादों के पुछर विद्वानों की विचारधारा से सुपरिचित होने पर भी नरेन्द्रनाथ अन्नेयवादी ॥ Agnostic ॥ नहीं बने थे, बल्कि अधिक सत्यान्वेषी हुए थे। इस दृश्यमान जगत् के अन्तराल में अविश्वस्त कौन है वह अदृष्ट पुरुष, जिसके संकेत से प्रकृति नियमित कार्य कर रही है। यदि किसी शक्ति विशेष ने ही इस दृष्टि को रचना की है तो उसकी स्वरूप स्थिति कैसी है। इत्यादि प्रश्नों से उनका मन अशान्त हो उठता और इन्हीं विचारों में ही मन रहा करते।

उस समय ब्रह्मसमाज की नई प्रवृत्ति में बंगाल के अधिकाँश अद्वीजी शिक्षित युवक आकर्षित हुए थे, और कई तो सदस्य भी बन चुके थे। विशेषतः विठ्ठ्यात् ब्राह्म नेता श्री केशवचन्द्र सेन की प्रतिभा, वार्गिमता व व्यक्तित्व इस आकर्षणिका कारण था। केशवचन्द्र सेन ने भारतीय वेदोपनिषद् की धर्म भावना की ऐड्डता का प्रतिपादन कर, अपने धर्म से अपरिचित युवकों को धर्मान्तर ग्रहण करने से रोक दिया था। नरेन्द्रनाथ भी इस आकर्षण से ब्रह्मसमाज के सदस्य बने और नियमित रूप से समाज की प्रार्थना सभा में जाने लगे। ब्रह्म समाज की विचारधारा में कुछ समय के लिए इनकी जिज्ञासा कुछ शान्त हुई। इन्होंने ब्रह्म समाज को विचारधारा को अपनाया और बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, जाति-पाति, शिक्षा और नारी-प्रतिष्ठानों को लेकर जो ब्रह्मसमाजी सुधार कार्य चल रहा था उसमें सक्रिय भागभी लिया। किन्तु, फिर भी, न तो इनकी जिज्ञासा ही शान्त हुई और न अभिलाषा ही। सत्यशोध की पुरणा उन्हें एक ऐसे व्यक्ति की ललाश की ओर ले गई जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया हो। इनके द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या आपने ईश्वर देखा है, देवेन्द्रनाथ टेगोर चूप होकर रह गए। सन् 1882 में यही प्रश्न लेकर यह रामकृष्ण के पास गए और इनके पूछने पर रामकृष्ण ने उत्तर दिया कि उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। रामकृष्ण ने विवेकानन्द को बताया कि वह विवेकानन्द भी ईश्वर का वैसे ही अनुभव कर सकते हैं, जैसे देख सकते हैं और उससे बात कर सकते हैं, जैसे कि वह रामकृष्ण से कर रहे थे। यहीं से विवेकानन्द के जीवन का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ।

अपने जीवन के इस नए मोड़ के विषय में विवेकानन्द ने स्वयं कहा है, "अपने में ही कुछ बुद्धिमत्ता द्वारा और अपनी नजर को मुझ पर गढ़ाए द्वारा वह रामकृष्ण १ धीरे-धीरे मैरे नज़दीक आए। मुझे ऐसा लगा कि कमरे की दीवारें और सभी कुछ तेजी से धूम कर शून्य में विलीन हो गया। एक और मुझे भय लगा और दूसरी ओर ऐसा लगा कि मानो मेरा अस्तित्व ही समाप्त हुआ जा रहा है और मृत्यु मेरे सामने है। मेरे चौंचने पर वे जोर से हीं और मेरी छाती पर थपकी देते द्वारा बोले, "अच्छा। अभी इस्को यहाँ रहने दो। समय आने पर सब ठीक हो जाएगा।"<sup>१</sup> ऐसा कहा जाता है कि वहली बार मुलाकात होने पर ही विवेकानन्द में रामकृष्ण को अपने भावी शिष्य के दर्शन हुए।<sup>२</sup> किन्तु इस घटना से विवेकानन्द की शंकालु जिज्ञासा और भी प्रबल हुई जिसके कारण उन्होंने रामकृष्ण की अनेक प्रकार से परीक्षा ली। अब उन्हें ईश्वर के साक्षात्कार को आवश्यकता न थी। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, "मुझे ईश्वर की इच्छा नहीं है— मुझे इच्छा है शारिंत की जिस्का तात्पर्य है— निरपेक्ष सत्य, निरपेक्ष ज्ञान और निरपेक्ष शाश्वत।"<sup>३</sup>

सन् 1884 में इनके पिता की मृत्यु हो गई। लब्ध प्रतिष्ठित वकील विश्वनाथ जी की आय तो अच्छी थी, परन्तु वे दान-पूण्य, कुटुम्ब-परिवार पालन में निर्विचार छंव कर दिया करते थे, फलतः कुछ भी नहीं बचता था। यही कारण था कि पिता के गुजरते ही स्वत्व काल में आर्थिक कठिन तीव्र हो गया। प्रयत्न करने पर भी जब जीविका का कोई साधन न मिल सका और जब चारों ओर से कोई आश्रय न मिला तो विवेकानन्द जीवन की समस्याओं पर अधिक गम्भीरता से सोचने के लिए विवश हुए। जीवन की कठिनाईयों ने विवेकानन्द की शंकालु जिज्ञासा को और भी प्रज्जवलित किया। किन्तु, रामकृष्ण यह जानते थे कि दःख से तपे मन में अन्ततः करुणा उत्ती ही है और अन्त में हुआ भी ऐसा ही। नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण से सलाह लेने गए तो रामकृष्ण ने काली के मन्दिर जाकर सहायता के लिये प्रार्थना करने को कहा। नरेन्द्रनाथ तीन बार मन्दिर में गए और तीनों बार सहायता के लिए प्रार्थना करना भूल गए। घर-

लौटते हुए, रास्ते में उन्हें काली दिव्याभास हुआ। दिव्याभास की मूर्छता से जाने पर नरेन्द्र ने केवल यही कहा, "माँ। जानने और विश्वास के अलावा मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"<sup>4</sup> उसी वर्ष नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण के शिष्य हो गए और संन्यास की दीक्षा ली। सन् 1886 में रामकृष्ण की मृत्यु होने पर, नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण के उत्तराधिकारी शिष्य हो गए। नरेन्द्रनाथ अब शिष्य से शिक्षक हो गए। बड़ा नगर में उन्होंने "रामकृष्ण ब्रदरहूड" संगठित किया और सन् 1888 तक वहीं रामकृष्ण की परम्परा में ध्यान और चिन्तन का उपदेश करते रहे।

सन् 1888 से 1893 तक वे भारत भ्रमण करते रहे। रामकृष्ण मठ छोड़े पर उन्होंने कहा था, "मैं जा रहा हूँ और तब तक वापस नहीं आउंगा जब तक समाज पर एक ख्रम की तरह फट पड़े और उसे कुत्ते की तरह अपना अनुसरण करवाने की मुझमें शक्ति न आ जाए।"<sup>5</sup> सन् 1893 में कुमारी अन्तरीप होते हुए वे मद्रास पहुँचे। यहीं उन्होंने अपना नाम विक्रेतानन्द रहा और यहीं उन्होंने अमेरिका में होने वाले धर्म संसद (Parliament of Religions) में भाग लेने का निश्चय किया। अपनी अमेरिका यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था, "यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि बिना जन-जीवन की दिर्द्रिता और दुःखों को दूर किए हुए, उनको धर्म का पाठ पढ़ाना एकदम बेकार है। मैं अमेरिका इसलिए जा रहा हूँ कि भारत की गरीबी दूर करने के लिए कुछ साधन जुटा सकूँ।"<sup>6</sup>

अमेरिका, इंग्लैण्ड और यूरोप का भ्रमण करते हुए, वहाँ के विचारक तथा दार्शनिकों से विचार विमर्श करते हुए और वेदान्त का सन्देश पैलाते हुए, विक्रेतानन्द सन् 1897 में भारत लौट आए। पहली मई सन् 1897 को विक्रेतानन्द ने रामकृष्ण मिशन का संगठन किया, जिसका उद्देश्य वेदान्त का प्रचार करना, वेदान्त में लोगों को दीक्षित करना और दीन दुःखियों को उसी प्रकार से समाज सेवा करना रहा है जिस प्रकार यूरोप के ईसाई मिशन करते रहे हैं। रामकृष्ण मिशन के कायों के द्वारा और अपने प्रयासों से विक्रेतानन्द ने आधुनिक

भारत को आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, आत्मसमर्पण और निडरता का उत्साह देकर, एक नई गत्यात्मक शक्ति देने का प्रयास किया। इसलिए विवेकानन्द को कर्मठ वेदान्ती कहा गया है। सन् 1900 में, पेरिस में होने वाली धर्मों के इतिहास की कान्ट्रेस (The Congress of the History of Religions) में भाग लेने के लिए जब वे यूरोप गए तो थोड़े दिन के लिए पुनः अमेरिका गए। किन्तु अस्वस्थता के कारण, वे जल्दी वापस आ गए। अल्मोड़ा में, जहाँ वे पश्चिम की यात्रा से लौट कर ठहरे थे, 4 जुलाई 1902 को, उनका स्वर्गवास हुआ।

#### शास्त्र प्रमाणवाद-

हमारे देश की परम्परा शास्त्र प्रमाण को अत्यधिक महत्व देती आई है। दार्शनिक चिन्तन की वैदिक प्रणाली, जिसके अन्तर्गत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा आते हैं, एक स्वर से वैद को परम प्रमाण स्वीकार करती है। यह सम्भव है कि वैद विषयक विवारों के विस्तार में इन दर्शनों में किंचित् मतभेद हो, परन्तु जहाँ तक प्रमाण का सम्बन्ध है वैद का नाम आते ही सबको मौन और श्वावनत होना पड़ा है।

स्वामी विवेकानन्द ने वैद ज्ञान की नित्यता और प्रामाणिकता स्वीकार की है। विवेकानन्द वेदों की नित्यता के विषय में लिखते हैं—  
 “वैद नामक शब्द राशि किसी पूर्ण के मुंह से नहीं निकलता है। उसके साल और तारीख का अभी निर्णय नहीं हुआ है और न आगे चलकर ही होगा। हम हिन्दूओं के मतानुसार वैद अनादि और अनन्त हैं। जगत् के अन्यान्य धर्म अपने शास्त्रों को यही कहकर प्रामाणिक स्थित करते हैं कि वे ईश्वर नामक व्यक्ति अथवा किसी दूत या पैगम्बर की वाणी है, पर हिन्दू कहते हैं वेदों का कोई दूसरा प्रमाण नहीं है, वैद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि वैद अनादि, अनन्त है, वे ईश्वरीय ज्ञानराशि हैं। वैद कभी लिखे नहीं गए, न कभी स्रष्ट हुए। वे अनादि काल से वर्तमान हैं। ऐसे सृष्ट अनादि अनन्त हैं, वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी।” वैद का अर्थ है यह ईश्वरीय ज्ञान की राशि। “वैद” धारु का अर्थ है जानना।

विवेकानन्द वेदों को नित्य, अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञान का संग्रह मानते हैं। वह अनादि हैं और अनन्त हैं क्योंकि उनका रचयिता परमात्मा भी अनादि और अनन्त है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रचारित इस धारणा का कि वेदों की रचना भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा हुई है, स्वामी विवेकानन्द ने बल्पूर्वक छण्ड किया। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा- “हिन्दू यह विश्वास करने को कभी तैयार नहीं है कि वेदों का कुछ अंश एक समय में और कुछ अन्य समय में लिखा गया है। उनका अब भी यह दृढ़ विश्वास है कि समग्र वेद एक ही समय उत्पन्न हुए थे अथवा उनकी सृष्टि कभी नहीं हुई, वे चिरकाल सृष्टिकर्ता<sup>१</sup> के मन में विद्यमान थे।<sup>२</sup>

वेदों के अपौरुषेयत्व के सिद्धान्त को विवेकानन्द ने एक स्वर से स्वर्विकार किया है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है यह वेदों के अन्तः साक्ष्य<sup>३</sup> और बिहसार्क्ष्य से भली-भान्ति प्रमाणित है, परन्तु प्रायेण यह शंका की जाती है कि वेद मन्त्रों पर जिन-जिन शृष्टियों का नाम लिखा रहता है उन शृष्टियों की ही तत् तत् मन्त्रों का क्ता<sup>४</sup> क्यों न मान लिया जाए। पाश्चात्य विद्वानों के मत में तो ये शृष्टि ही मन्त्रों के रचयिता थे। परन्तु भारतीय परम्परा इन शृष्टियों को मन्त्र-क्ता<sup>५</sup> न मानकर मन्त्रद्रष्टा मानती है। जिन्होंने मन्त्रों के रहस्य का दर्शन किया और मन्त्रगत चरम सत्य का साक्षात्कार कर वेद वाणी का संसार में प्रचार किया। इन्हीं द्रष्टा शृष्टियों की सृति को सुरक्षित रखने के लिए अथवा उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापनार्थ उनका नाम वेद मन्त्रों के साथ लिखा रहता है। विवेकानन्द ने भी शृष्टियों के मन्त्रद्रष्टा होने का ही समर्थन किया है। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा- “शृष्टि शब्द का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा, यह ज्ञान तथा भाव उनके अपने विचार का फल नहीं है। जब कभी आप सुने कि वेदों के अमुक अंश के शृष्टि अमुक हैं, तब यह मत सोचिए कि उन्होंने उसे लिखा था या बुद्धि से बनाया है, बल्कि पहले से ही वर्तमान भाव राशि के द्रष्टामात्र हैं- वे भाव अनादि काल से ही इस संसार में विद्यमान थे।<sup>६</sup>

वेद के अन्तर्गत कौन से ग्रन्थ आते हैं? इस सम्बन्ध में विवेकानन्द के विचार उनके एक पत्र में जाने जा सकते हैं। वे लिखते हैं- “भास्त में यह सर्वसम्मत मत है कि “वेद” शब्द में तीन भाग सम्मिलित हैं - संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्। इसमें से पहले दो भाग कर्मकाण्ड सम्बन्धी होने के कारण अब लगभग एक और कर दिए गए हैं। सब मतों के निर्मार्तिः तथा तत्त्वज्ञानियों ने केवल उपनिषदों को ही ग्रहण किया है।<sup>6</sup> स्वामी विवेकानन्द का उपनिषदों के प्रति विशेष आग्रह था, इसका कारण है उनका वेदान्ती होना। नवीन अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त ज्ञानी सरलता से उपनिषदों से स्थूल किया जा सकता है उतना संहिताओं से नहीं। इस तथ्य से अवगत होने के कारण ही विवेकानन्द ने कर्मकाण्ड कल्पर संहिता भाव की उपेक्षा करने की चेष्टा की। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा- “वेदों के कर्मकाण्ड पर हिन्दुओं की बड़ी श्रद्धा है परन्तु हम जानते हैं कि युगों तक श्रुति के नाम से केवल उपनिषदों का ही अर्थ लिया जाता था। हमारे बड़े बड़े दार्शनिकों ने, व्यास हों चाहे पतंजलि या गौतम, यहाँ तक कि सभी दर्शनशास्त्रों के जनकस्वरूप महापुरुष कपिल ने भी जब अपने मत के समर्थक प्रमाणों का संग्रह करना चाहा तब उनमें से हर एक को उपनिषदों में ही प्रमाण मिले हैं और कहीं नहीं, क्योंकि चिरकालिक सत्यसमूह केवल उपनिषदों में ही है।<sup>7</sup>

उपर्युक्त उद्दरण विवारणीय है। वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में सबसे बड़ा भ्रम जो यूरोपीय विद्वानों के द्वारा फैलाया गया और जिसके शिकार भारतीय विद्वान् भी हुए हैं वह है संहिता भाग को केवल कर्मकाण्ड परक और उपनिषदों को केवल ज्ञानपरक मानना। प्रायें यह समझा गया कि मन्त्र संहिताओं में प्राकृतिक शाकितयों की स्तुति और याज्ञिक कर्मकाण्ड का ही वर्णन है और भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा उपनिषदों में ही अपने विकास की चरम सीमा तक पहुंची है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का मूलाधार भी वेद संहिताएँ ही हैं। “श्रुति” का प्रयोग उपनिषदों के लिए श्वराचार्य आदि सूक्ष्मों ने वेदान्ताचार्यों ने किया और उसका भी एक विशेष कारण था। वेदान्त सूक्ष्मों में

उपनिषदों के आपाततः विरोधी दीर्घने वाले सिद्धान्तों की सामंजस्यपूर्ण संगति लगाई गई है और इसी वेदान्त दर्शन के आधार पर शक्ति, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ आदि मध्यकालीन विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की। अतः उपनिषदों को "श्रुति" अर्थात् दृष्टि से ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द वेद के नित्यत्व और अपौरुषेयत्व को स्वीकार करते हुए भी वेद के संहिता भाग को केवल कर्मकाण्डुपरक मानते हैं और उपनिषद् एवं आरण्यकों को ज्ञानकाण्ड प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ मानकर उनको असीम गौरव प्रदान करते हैं।

वेद के सर्वोपरि प्रमाण माने जाने और अन्यान्य ग्रन्थों के तदनुकूल होने पर ही प्रामाणिक समझे जाने के सिद्धान्त का भी विचार करना आवश्यक है। इस विषय के प्रारम्भ में ही यह लिख देना उचित है कि वेद के स्वतः प्राणत्व और अन्यायन्य ग्रन्थों के परतः प्रमाणत्व का सिद्धान्त इस देश में अन्त्यन्त पुरातन काल से ही प्रचलित है। शास्त्रों में जहाँ परस्पर विरोध का प्रसंग उत्पन्न हआ है वहाँ श्रुति का गौरव सर्वोपरि समझा जाता है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने जाबाल का प्रमाण देते हुए लिखा है- श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।<sup>8</sup> अर्थात् श्रुति और स्मृति का विरोध उपस्थित होने पर श्रुति को ही प्रमाण माना जाएगा, स्मृति को नहीं। शताब्दियों से शास्त्रविषयक यह मर्यादा अद्यतन चली आ रही है।

स्वामी विवेकानन्दके ग्रन्थों में एक नहीं अनेक ऐसे स्पष्ट उद्दरण दिए जा सकते हैं जो वेद की स्वतः प्रामाणिकता और अन्यान्य स्मृति, पुराणादि की परतः प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं- "सभी समय के लिए वेद ही अन्तिम धर्य और प्रमाण हैं, और यदि किसी विषय पर पुराणों का वेदों में मतभेद हो तो पुराणों के उस भाग को बिना किसी हिचकिचाहट के एकदम अस्वीकृत कर देना होगा। वेद सर्वकालीन, सर्वव्यापी और सार्वदैशिक हैं।"<sup>9</sup>

वातार्लाप के प्रसंग में उन्होंने यही बात कही- "वेदों को छोड़कर अन्य सारे शास्त्र युग ऐद से बदलते रहते हैं। परन्तु वेदों का शासन नित्य है। अन्य शास्त्रों का शासन तो काल-विशेष की सीमा के भीतर ही कार्य करता है।<sup>10</sup> इसी प्रसंग में उन्होंने आगे कहा- "वेद ही एकमात्र प्रमाण है। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वहाँ तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वेद के अविरोधी हैं।"<sup>11</sup>

भदुरा में दिए गए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा, सब समय वेद ही हमारे चरम लक्ष्य और मुख्य प्रमाण रहे हैं। यदि किसी तरह पुराणों का कोई हिस्सा वेदों के अनुकूल न हो तो निर्दिष्टापूर्वक उतने अंश का त्याग कर देना चाहिए।<sup>12</sup> कुम्भकोणम् में दिए भाषण का एक अंश भी यही अभिप्राय व्यक्त करता है- "वेद चिरकालिक सत्य होने के कारण सदा समझाव में क्लियमान रहते हैं, किन्तु स्मृतियों की प्रधानता युग- परिवर्तन के साथ ही जाती रहती है।"<sup>13</sup> श्रुति की गुरुता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा- "यह शास्त्र का नियम है कि जहाँ श्रुति एवं पुराण और स्मृति में मतभेद हों, वहाँ श्रुति के मत को ग्राह्य और स्मृति के मत का परित्याग करना चाहिए।"<sup>14</sup>

उपर्युक्त उद्धरण इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि स्वामी दिविकानन्द वेद के प्रमाण के विषय में सनातन वैदिक सिद्धान्त को ही स्वीकार करते थे, परन्तु मध्यकालीन युग में वेद का यह महत्व कैवल कथन मात्र के लिए ही रह गया। समस्त आचार- विचार जहाँ वेदों के द्वारा नियन्त्रित होने चाहिए थे, वहाँ उनका स्थान अनेक रुद्रियों और अन्यविश्वासों ने ले लिया। सब गतानुगतिकता और रुद्रिवादिता के क्रीत दास बन गए। विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कितना सत्य कहा है- "पुराण, तन्त्र और अन्यान्य ग्रन्थ समूह" यहाँ तक कि व्यास सूक्त भी गौण हैं। हमारे मुख्य प्रमाण वेद हैं। मन्त्रादि स्मृतियों और पुराणों का जितना अंश उपनिषदों और वेदों से मेल खाता है, उतना ही ग्रहण योग्य है, यदि वे बछेड़ा करें तो उन्हें निर्दिष्टापूर्वक छोड़ देना चाहिए। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा, परन्तु भारत के दर्भार्य के कारण वर्तमान समय में हम यह बिल्कुल भूल गये हैं। इस समय छोटे छोटे ग्राम्य आचारों को उपनिषदों के उपदेश का आसन मिल गया है।<sup>15</sup>

विवेकानन्द के जीवन में वेद प्रमाण को पुनः प्रतिष्ठित करने की कामना सदा ही जाग्रत रही। एक व्याख्यान में उनकी वेद विषयक हार्दिक कामना की एक झल्क दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने कहा- "स्मृति, पुराण, तन्त्र वर्णी तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वेद का अनुमोदन करते हैं। ऐसा न होने पर वे अग्राह्य हैं। किन्तु आज्ञाल हम लोगों ने पुराण को वेद की अपेक्षा भ्रष्ट समझ रखा है। मैं वह दिन शीघ्र देखना चाहता हूँ जिस दिन प्रत्येक घर में शालिग्राम की मूर्ति के साथ आबाल बूँद विनिता वेद की पूजा करते दृष्टिगोचर होंगे।"<sup>16</sup> तथ्य यह है कि शालिग्राम शिला की प्रतिष्ठा तो घर घर है परन्तु वेद की पूजा में अभी विलम्ब ही है।

पुराणों की सृष्टिक्रम विस्तृत, अवैज्ञानिक और युक्तिपूर्वक एवं तर्क से असिद्ध बातें हमारे लिए अत्यधिकरणीय हैं क्योंकि वे वेद से भी विस्तृत व पञ्ची हैं। उदाहरण देते हुए विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा, "पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं। जिनका वेदों के साथ मेल नहीं खाता। जैसे पुराणों में लिखा है, कोई दस हजार वर्ष और कोई बीस हजार वर्ष जीवित रहता है, किन्तु वेदों में लिखा है- "शतायुर्वेपुरुषः" इस मतभेद में वेद ही ग्राह्य है।"<sup>17</sup>

स्मृतियों के वाक्यों की प्रामाणिकता के लिए जिस प्रकार उनका वेदों से अविस्तृत होना आवश्यक है, उसी प्रकार ऋषि, महर्षियों और आप्त पुरुषों के वचनों की मान्यता भी उनके वेदानुकूल होने के कारण ही है। इस विषय में विवेकानन्द ने कहा है, "हमारा धर्म व्यक्ति विशेष के ऊपर नहीं किन्तु सनातन सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है..... कृष्ण के वचनों से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, किन्तु वे वेदों के अनुगामी हैं, इसी से कृष्ण के वे वाक्य प्रमाण स्वरूप हैं। कृष्ण वेद के प्रमाण नहीं हैं, किन्तु वेद ही कृष्ण के प्रमाण हैं। कृष्ण का महात्म्य यही है कि वेदों के जितने प्रचारक हुए हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ वे ही हैं। अन्यान्य महर्षियों के सम्बन्ध में भी यही समझिए। हम आरम्भ से ही यह स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्यता की प्राप्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसका वर्णन वेदों में है।"<sup>18</sup>

वेद केवल ईश्वरीय ज्ञान ही नहीं, अपितु समस्त ज्ञान- विज्ञान के आदि स्रोत- मूल उत्स हैं। संसार की विविध लौकिक और आध्यात्मिक विद्याओं का मूल उनमें देखा जा सकता है। अपने एक वातान्त्रिक के प्रसंग में विवेकानन्द जी ने कहा- “इस संसार में ऐसा कोई सत्य या विधि नहीं है जो वेदों में न हो, हम आपको आहवान करते हैं कि आप ऐसे सत्य को दिखाएं जिसकी व्याख्या वेदों में न हो।”<sup>19</sup> एक अन्य प्रसंग में उन्होंने प्रकारान्तर से यही बात लिखी- “आर्यों की प्रत्येक विद्या का बीज वेद में विद्यमान है एवं उक्त किसी भी विद्या की प्रत्येक संज्ञा वेद में आरम्भ करके वर्तमान समय के ग्रन्थों में भी दिखाई जा सकती है।”<sup>20</sup>

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्वामी विवेकानन्द वेदों को संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत मानते हैं और उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि विविध विद्याओं का मूल वेदों में देखा जा सकता है।

निश्चय ही वेदों के विषय में स्वामी विवेकानन्द के विचार पर्याप्त रूप में पुरातन भारतीय परम्पराओं का अनुसरण करते हैं, जिसके फलखलूप वे वेदों के अपौरुषेयत्व और ईश्वरीय होने को भी सादर स्वीकार करते हैं।

वेद के सार्वभौम और सावदेशिक स्वरूप को स्वामी विवेकानन्द ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। वेद की सार्वभौम और सर्वव्यापक सत्ता को स्वीकार करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा- “समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देश-विशेष, काल-विशेष अथवा पात्रविशेष तक सीमित नहीं है।…… सार्वजनिक धर्म की व्याख्या करने वाला एकमात्र वेद ही है।…… अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह होने के कारण, आर्योंजाति के बीच में प्रसिद्ध वेद नामधारी चार भागों में विभक्त अक्षर समूह ही सब प्रकार से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है। समस्त जगत्<sup>का</sup> पूजार्ह है तथा आर्य एवं मलेच्छ सबके धर्म ग्रन्थों की प्रमाण भूमि है।”<sup>21</sup> कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद के प्रति इतनी भावभीनी शब्दांजील स्थायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने अर्पित की हो।

इस विषय को विकेन्द्रियन्त्र के एक उद्धरण के साथ ही समाप्त करते हैं जो वेदों का सर्वोपरि महत्त्व स्थापित करता है। अपने ज्ञानयोग नामक ग्रन्थ में उन्होंने लिखा- “वेद के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुई है। ज्ञान नाम से जो कुछ समझा जाता है, वह वेद में ही है। जिस प्रकार आत्मा अनादि और अनन्त है उसी प्रकार वेद का प्रत्येक शब्द भी पवित्र एवं अनन्त है। सृष्टि कर्ता के समस्त मन का भाव ही मानों इस ग्रन्थ में प्रकाशित है। यह कार्य नीति संगत क्यों है । क्योंकि इसे वेद कहता है। यह कार्य अन्यान्य क्यों है । क्योंकि वेद इसे कहता है।<sup>22</sup>

### ईश्वर विषयक मान्यताएँ-

भारत का धर्म चिन्तन आस्तिकता के अत्युच्च भाव पर आधारित है। सर्वोपरि प्राचीन ग्रन्थ वेद में संसार को रचीयता, पात्रक एवं संहतांशकित की जो कल्पना की गई है उसे ही प्रतीक्षित उपनिषद्, दर्शन तथा अन्य ग्रन्थों में पत्ता-वित किया गया। इस पारमार्थिक, अलौकिक, चिन्मय-सत्ता को ब्रह्म, ईश्वर आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया। वेदों में सर्वोच्च सत्ता के रूप में एक ईश्वर की ही कल्पना की गई थी और उसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि यम, मातृश्वारा आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया था, परन्तु कालान्तर में वेद प्रतिपादित एकेश्वरवाद के उच्च विचार को ओङ्कार कर उसके स्थान पर बहुदेववाद को प्रतिष्ठित किया गया। अब ईश्वरवाद का निर्मल-स्वरूप पुराण वर्णित विविध देवताओं तथा उनके परिकरों की कल्पना मूलक धारणा-ओं से आच्छान्न हो गया। फलतः उपासना के क्षेत्र में संकीर्णता, साम्यदायिकता तथा कपोल कन्त्यत धारणाओं का बोलबाला रहा। भारत का मध्यकालीन धर्म चिन्तन इसी बहुदेववादी पौराणिकता से प्रभावित है।

मूर्तिपूजा, अवतार कल्पना आदि बहुदेवतावाद के ही सुनिश्चित परिणाम हैं। विश्व एकेश्वरवाद की स्थूल एवं जड़ बहुदेववाद में परिणति का ऐतिहासिक स्वरूप विश्लेषित करना यहाँ अभीष्ट नहीं है किन्तु यह अवश्य है

कि तथाकथित हिन्दू धर्म और समाज की बहुविधि दुर्देशी का एक कारण यह थी था कि उसके धार्मिक एवं आध्यात्मिक भाव, उसकी पूजा एवं उपासना प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण, संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक-भावापन्न हो चुकी थी। नवजागरण के पुरस्कर्ता महापुरुषों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना हमारा पुनीत दायित्व हो जाता है, जब हम देखते हैं कि उन्होंने मध्यकालीन साम्प्रदायिक धारणाओं का निरसन कर ईश्वरवाद को उसके मौलिक रूप में स्थापित किया।

स्वामी विवेकानन्द उसी युग में उत्पन्न हुए थे जिसमें ईश्वर सम्बन्धी विचारों को बौद्धिक एवं तर्कसंगत खस्त प्रदान किया जा रहा था। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज ने बुद्धिवाद को महत्व देकर आस्तिकता के विचारों को जिस प्रकार व्यवस्थित एवं युक्ति संगत शैली में उपस्थित किया उससे वेदान्त के प्रति अगाध निष्ठावान् विवेकानन्द का भी प्रभावित होना स्वाभाविक था। उनके ईश्वर विषयक विचार परिष्कृत तथा मध्यकालीन साम्प्रदायिक धारणाओं से ऊपर उठे हुए हैं।

सगुण ईश्वर और सगुणोपासना को लेकर वैष्णव सम्प्रदायों ने यह धारणा प्रचलित कर दी थी कि सगुण साकार का ही पर्याय है अतः रूप, आकार, प्रकार विशिष्ट ईश्वर ही सगुण हैं और ऐसे मानवाकृतिधारी रामकृष्ण आदि ईश्वरावतारों की पूजा ही सगुण उपासना है। विवेकानन्द ने सगुण का अर्थ इस प्रकार किया है “इस सगुण के अर्थ से देहधारी, सिंहासन पर बैठे हुए, सैसार का शासन करने वाले किसी पुरुष विशेष से मतलब नहीं। सगुण अर्थ से गुण युक्त समझना चाहिए। इस सगुण ईश्वर का वर्णन शास्त्रों में अनेक स्थलों में देखने को मिलता है, और सभी सम्प्रदाय इस सैसार का शासक, सूष्टा, संरक्षक और संहतां सगुण ईश्वर की मानते हैं।”

स्वामी विवेकानन्द ने ईश्वर सम्बन्धी चर्चा करते हुए ईश्वर को इस प्रकार परिभाषित किया है- “जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और पुल्य

होता है,<sup>2</sup> वही ईश्वर है। वह अनन्त, शुद्ध, नित्यमुक्त, सर्वाज्ञ, परम कारूणिक और गुरुओं का भी गुरु है, और सर्वोपरि, "वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है।"<sup>3</sup> ये सारी परिभाषाएं निश्चय ही सगुण ईश्वर की हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ईश्वर दो हैं?<sup>4</sup> एक सच्चिदानन्दस्वरूप, जिसे ज्ञानी "नेति नेति" करके प्राप्त करता है और दूसरा, भक्त का यह प्रेममय भगवान्। इस प्रश्न का उत्तर देते हए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि ईश्वर दो नहीं हैं। "वह सच्चिदानन्द ही यह प्रेममय भगवान् है, वह सगुण और निर्गुण, दोनों हैं। भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमैवाद्वितीय ब्रह्म है। परन्तु ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम एवं उपासना के योग्य नहीं। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अथात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्म मानो मिटटी या उपादान के सदृश है, जिसे नाना प्रकार की वस्तुएं निर्मित हुई हैं। मिटटी के रूप में तो वे सब एक हैं, पर उनका आकार या अभिव्यक्ति उन्हें भिन्न कर देती है। उत्पत्ति के पूर्व वे सबकी सब मिटटी में अव्यक्त भाव से विद्यमान थीं। उपादान की दृष्टि से अवश्य वे सब एक हैं, पर जब वे भिन्न भिन्न आकार धारण कर लेती हैं और जब तक वह आकार बना रहता है, तब तक वे पृथक् पृथक् ही प्रतीत होती हैं। एक मिटटी का चूहा कभी मिटटी का हाथी नहीं हो सकता, क्योंकि गढ़ जाने के बाद उनको आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृति हीन मिटटी की दशा में वे दोनों एक ही थे। ईश्वर उस निरपेक्ष सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, या दूसरे शब्दों में मानव मन निरपेक्ष सत्य की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है। सृष्टि अनादि है, और उसी प्रकार ईश्वर भी अनादि है।<sup>4</sup>

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी विवेकानन्द को ईश्वर का वही स्वरूप मान्य था जिसका वर्णन वेदान्त दर्शन में मिलता है। वेदान्त दर्शन में ईश्वर और ब्रह्म की दो पृथक् सत्ताएं स्वीकार नहीं की गई हैं।

अपितु ईश्वर ब्रह्म की ही विशेष स्थिति है । जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूपादि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए वर्णित होता है तब वही अपर ब्रह्म कहलाता है । यह अपर ब्रह्म ही ईश्वर है । ईश्वर, सगुण-ब्रह्म, अपर ब्रह्म और कार्य ब्रह्म अद्वैत वेदान्त में पर्यावाची शब्द है । ईश्वर सविशेष ब्रह्म है । वह निरूपाधि, निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म से भिन्न है । वह माया से उपहित ब्रह्म है । यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है तक्षापि उपासना के लिए उसे सगुण कहा गया है ।<sup>5</sup>

जगत् का सृजन, पालन एवं संहार करने वाला तथा नियमन करने वाला केवल ईश्वर ही है । इस विषय को स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के सूत्रों को ऊट्ठ कर स्पष्ट किया है । वेदान्त सूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में यह वर्णन करने के पश्चात् कि मुक्ति लाभ के उपरान्त मुक्तात्मा एक प्रकार से अनन्त शक्ति और ज्ञान प्राप्त करती है, व्यासदेव एक दूसरे सूत्र में कहते हैं, "पर किसी को सृष्टि, स्थिति और प्रलय की शक्ति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर की ही है ।"<sup>6</sup> इस सूत्र को व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाष्यकारों के लिए यह दर्शाना सरल है कि परतंत्र जीव के लिए ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना नितान्त असम्भव है । कट्टर द्वैतवादी भाष्यकार मध्वाचार्य ने वराहपुराण से एक इलाके लेकर इस इलाके की व्याख्या अपनी पूर्व परिचित संक्षिप्त शैली में की है ।<sup>7</sup>

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार रामानुज कहते हैं, "ऐसा संशय उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसमें क्या परम पुरुष की जगत्सृष्टि आदि रूप असाधारण शक्ति और सर्वनियन्त्रृत्व भी अन्तर्भूत है । या कि उसे यह शक्ति नहीं मिलती, और उसका गौरव केवल परम पुरुष का साक्षात् दर्शन भर प्राप्त करना है । तो इस पर पूर्व पक्ष यह उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा का जगन्नियन्त्रृत्व प्राप्त करना युक्तियुक्त है, क्योंकि शास्त्र का कथन है, "वह शुद्ध रूप होकर दूषित पुरुष के साथू परम

एकत्व प्राप्त कर लेता है ।<sup>8</sup> अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि उसकी समस्त वासना पूर्ण हो जाती है । अब बात यह है कि परम एकत्व और सारी वासनाओं की पूर्ति परम पुरुष की असाधारण शक्ति जगन्नन्दिन्यन्तृत्व बिना संभव नहीं । इन्हिए जब हम यह कहते हैं कि उसकी सब वासनाओं की पूर्ति हो जाती है तथा उसे परम एकत्व प्राप्त हो जाता है, तो हमें यह मानना ही चाहिए कि उस मुक्तात्मा को जगन्नन्दिन्यन्तृत्व की शक्ति प्राप्त हो जाती है । इन सम्बन्ध में यह उत्तर दिया गया है कि मुक्तात्मा को जगन्नन्दिन्यन्तृत्व के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियों प्राप्त हो जाती हैं । जगन्नन्दिन्यन्तृत्व का अर्थ है- विश्व के सारे स्थावर और जंगल के रूप, उनकी स्थिति और वासनाओं का नियन्तृत्व । पर मुक्तात्माओं में यह जगन्नन्दिन्यन्तृत्व की शक्ति नहीं रहती, उनकी परमात्मदृष्टि का आवरण अवश्य दूर हो जाता है और उन्हें ब्रह्म की अबाध अनुश्वासित हो जाती है । यह शास्त्र द्वारा सिद्ध होता है । शास्त्र कहते हैं, "जिसमें यह समुदाय उत्पन्न होता है, जिसमें यह समुदाय स्थित रहता है, और जिसमें प्रलय काल में यह समुदय लीन हो जाता है, तू उसी को जानने की इच्छा कर-वही ब्रह्म है ।"<sup>9</sup> स्वामी विकेकानन्द उत्तर पक्ष स्थापित करते हुए कहते हैं कि-यदि यह जगन्नन्दिन्यन्तृत्व शक्ति मुक्तात्माओं का भी एक साधारण गुण होता तो उपर्युक्त श्लोक फिर ब्रह्म की परिभाषा नहीं हो सकता, क्योंकि उसके जगन्नन्दिन्यन्तृत्व- गुण से ही उसका लक्षण प्रतिपादित हुआ है । असाधारण गुणों के द्वारा ही किसी वस्तु की परिभाषा होती है । अतः इस प्रकार के वाक्यों द्वारा ही उसकी परिभाषा होती है- "वत्स, आदि में एकेमेवाद्वितीय ब्रह्म ही था । उसमें इस विचार का स्फुरण हुआ कि मैं बहु सृजन करूँगा । उसने तेज की सृष्टि की ।"<sup>10</sup> आदि में केवल एक ब्रह्म ही था । वह एक विकासित होने लगा । उससे क्षत्र नामक एक सुन्दर रूप प्रकट हुआ । वस्त्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान- ये सब देवता क्षत्र हैं । "पहले आत्मा ही थी, अन्य कुछ भी स्पर्दमान नहीं था । उसे सृष्टि सृजन का विचार आया और फिर उसने सृष्टि कर डाली ।" एकमात्र नारायण ही था, न ब्रह्मा, न ईशान, न द्यावा- पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि,

सोम और न सूर्य । अकेले उसे आनन्द न आया । ध्यान के अनन्तर उसके एक कन्या हुईं - दशइन्द्रिय ।<sup>10</sup> जो पृथ्वी में वास करते हुए भी पृथ्वी से अलग है, ..... जो अह्मा में रहते हुए..... इत्यादि<sup>11</sup> । इनमें श्रुतियों के परम पूर्ण को जगत् के नियन्तृत्व का कर्ता माना है । जगत् के नियन्तृत्व के इन वर्णनों में मुक्तात्मा का ऐसा कोई स्थान नहीं है, जिससे जगन्नयन्तृत्व का कार्य उसमें स्थापित हो सके ।<sup>12</sup>

इस सम्बन्ध में विवेकानन्द जी प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य शङ्कर का मत प्रस्तुत करते हैं । आचार्य शङ्कर कहते हैं - "जो लोग सगुण ब्रह्मोपासना के बल से परमेश्वर के साथ एक हो जाते हैं, घर साथ ही जिनका मन अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखता है, उनका ऐश्वर्य ससीम होता है या असोम । यह संशय आने पर पूर्व पक्ष यह उपस्थित होता है कि उनका ऐश्वर्य असीम है, क्योंकि शास्त्रों का कथन है, "उन्हें स्वराज्य प्राप्त हो जाता है, "सब देवता उनकी पूजा करते हैं, सारे जोकों में उनकी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं ।" इनके उत्तर में स्वाभी विवेकानन्द ने व्यास का मत उद्धृत किया है । व्यास कहते हैं, हाँ, जगत् के नियन्त्रण को शक्ति को छोड़कर ।<sup>13</sup> मुक्तात्मा को सृष्टि, स्थिति और पुन्नय की शक्ति के अतिरिक्त अन्य सब अणिमादि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं । रहा जगत् का नियन्तृत्व, वह तो केवल नित्य सिद्ध ईश्वर का होता है । कारण कि शास्त्रों में जहाँ-जहाँ पर सृष्टि आदि का प्रसंग आया है, उन सभी स्थानों में ईश्वर की ही बात कही गई है । वहाँ पर मुक्तात्माओं की कोई चर्चा नहीं है । जगत् के परिचालन में केवल उसी परमेश्वर का हाथ है । सृष्टि आदि सम्बन्धी सारे शलोक ऊपरी का निर्देश करते हैं । शास्त्र यह भी कहते हैं कि अन्य जनों की अणिमादि शक्तियाँ ईश्वर की उपासना तथा ईश्वर के अन्वेषण से ही प्राप्त होती हैं । अतएव, जगन्नयन्तृत्व में उन लोगों का कोई स्थान नहीं । इसके अतिरिक्त वे अपने अपने चित्त से युक्त रहते हैं, इसलिए यह सम्भव है कि उनको इच्छाएं अलग-अलग हों । हो सकता है एक सृष्टि की इच्छा करे, तो

दूसरा प्रलय की । यह छन्द दूर करने का एकान्त्र उपाय यही है किंतु सब इच्छाएं अन्य किसी एक इच्छा के अधीन कर दी जाएं ।<sup>13</sup> अतः निष्कर्ष यह निकला कि मुक्तात्माओं को इच्छाएं परमेश्वर को इच्छा के अधीन हैं ।

खामी विवेकानन्द जब यूरोप में थे, तब उनसे एक प्रश्न किया गया था कि वेदान्त दर्शन में ईश्वर का क्या स्थान है । इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था: “ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि है, और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव-शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओं <sup>Cells</sup> की रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है । समष्टि ही ईश्वर है, और व्यष्टि ही जीव है । अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का कोशिकाओं पर, और इसका विलोम भी सत्य है । इस प्रकार, जीव और ईश्वर सहअस्तित्वमान् हैं यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का होगा ही । समष्टि स्वरूप होने के कारण, सर्वोक्तमता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण हैं, इन्हें सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं । ब्रह्म इन दोनों से परे है और निर्विकार है । ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है, जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं- वह अखण्ड है, वह क्षेत्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है, उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं, और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्म ही है । जब मैं सोचता हूँ “अहं ब्रह्माऽस्मि” तब केवल मैं ही वर्तमान” रहता हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता । यही बात औरों के विषय में भी है । अतएव, प्रत्येक ही वही पूर्ण ब्रह्म-तत्त्व है ।<sup>14</sup>

विवेकानन्द का ईश्वर विषयक समग्र चिन्तन वेदान्तवाद की विचारधारा से आच्छान्न है । शांकर वेदान्त में ईश्वर को निरुण्ड ब्रह्म से अवर माना है, इसी प्रकार के विचार विवेकानन्द ने भी व्यक्त किए- “जो विश्व की सृष्टि तथा पालन करने वाले हैं, जो मायाध्यिष्ठित हैं, जिन्हें माया या प्रकृति का

कर्ता कहा जाता है, उन्हीं सगुण ईश्वर का ज्ञान वेदान्त का अन्त नहीं है ।<sup>15</sup>  
यही विवेकानन्द की ईश्वर सम्बन्धी दर्शनिक धारणा है ।

स्वामी विवेकानन्द ने जीव ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए निम्न विचार व्यक्त किए हैं "जीव है व्यष्टि, और समस्त जीवों की समष्टि है, ईश्वर । जीव में अविद्या प्रबल है, ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टि रूपी माया को वशीभूत करके विद्यमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावर- ज़ंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से बाहर निकाल रहा है । परन्तु ब्रह्म उस व्यष्टि-समष्टि से अथवा जीव और ईश्वर से परे है । ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता । समझाने के लिए उनके क्रिपाद, चतुष्पाद आदि की कल्पना मात्र की गई है । जिस पाद में सृष्टि स्थिति लय का अध्यास हो रहा है, उसी को शास्त्र में "ईश्वर" कहकर निर्देश किया गया है । अपरपाद कूटस्थ है, जिसमें द्वैत कल्पना का आभास नहीं है, वही ब्रह्म है । इससे तू कहीं ऐसा न मान लेना कि ब्रह्म, जीव-जगत् से कोई अलग वस्तु है । विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में परिणत हुआ है । अद्वैतवादी कहते हैं, "ऐसा नहीं, ब्रह्म में जीव-जगत् अध्यस्त मात्र हुआ है । परन्तु वात्तव में ऊसमें ब्रह्म का किसी प्रकार परिणाम नहीं हुआ । अद्वैतवादी का कहना है कि जगत् केवल नाम रूप ही है । जब तक नाम रूप है, तभी तक जगत् है । ध्यान धारणा द्वारा जब नाम रूप लिप्त हो जाता है, उस समय एक मात्र ब्रह्म ही रह जाता है । उस समय तेरी, मेरी अथवा जीव- जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होता । उस समय ऐसा जगता है कि मैं ही नित्य शुद्ध शुद्ध प्रत्यक् चैतन्य अथवा ब्रह्म हूँ, जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है । ध्यान- धारणा द्वारा नाम रूप आवरण हटकर यह भाव प्रत्यक्ष होता है । यही है शुद्धाद्वैतवाद का असल सार । वेद- वेदान्त, शास्त्र आदि इसी बात को नाना प्रकार से बार- बार समझा रहे हैं ।<sup>16</sup>

### आत्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण-

भारतीय दर्शनों में "आत्मा" महत्वपूर्ण तत्त्व है। चावाकि दर्शन को छोड़कर सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। वस्तुतः यह आत्मा न मरता है, न जीता है और न इसका विनाश ही होता है। यह नित्य, शुद्ध, कूटस्थ और अविनाशी है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा बहुत पद लेने से प्राप्त नहीं होता, बुद्धि से भी प्राप्त नहीं होता और न बहुत सुनने से प्राप्त होता है।<sup>1</sup>

स्वामी विवेकानन्द ने आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए सांख्य मत को प्रस्तुत किया है। सांख्य का विश्लेषण द्वैतवाद-प्रकृति और आत्माओं में पर्याप्ति होता है। आत्माओं की संख्या अनन्त है, तथा अमिश्र होने के कारण आत्मा का विनाश नहीं हो सकता, इसलिए वह प्रकृति से स्वतन्त्र है। प्रकृति का परिणाम होता है तथा वह यह समग्र पृष्ठच प्रकाशित करती है। सांख्य के मत के अनुसार आत्मा निष्कृय है वह अमिश्र है, तथा प्रकृति आत्मा के अपवर्ग अथवा उसकी मुक्ति साधित करने के लिए ही इस समग्र पृष्ठचजाल का विस्तार करती है, तथा आत्मा जब समझ पाती है कि वह प्रकृति नहीं है, तभी उसकी मुक्ति होती है। दूसरी ओर यह भी देखा है कि सांख्यवादियों को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा था कि प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है। आत्मा जब अमिश्र पदार्थ है, तब ससीम हो नहीं सकती, क्योंकि समग्र सीमाबद्ध भाव देश, काल अथवा के निमित्त के द्वारा बना होता है। आत्मा जब सम्पूर्ण रूप से इन सबसे अतीत है, तब उसमें ससीम भाव कछु रह नहीं सकता। ससीम होने पर उसे देश के भीतर रहना होगा और इसका अर्थ है, उसकी एक दैह अवश्य ही रहेगी, तथा जिसकी देह है, वह अवश्य प्रकृति के अन्तर्गत है। यदि आत्मा का आकार होता, तब तो आत्मा प्रकृति से अभिन्न होती। अतएव आत्मा निराकार है, तथा जो निराकार है, वह यहाँ वहाँ अथवा और कहीं है, यह नहीं कहा जाता। वह अवश्य ही सर्वव्यापी होगी।<sup>2</sup> स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि सांख्य दर्शन इससे आगे और अधिक नहीं गया।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन के आत्मा विषयक दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए लिखा है कि सांख्यवादियों के इस मत के विरुद्ध वेदान्तवादियों की प्रथम आपत्ति यह है कि सांख्य का यह विश्लेषण सम्पूर्ण नहीं है। यदि प्रकृति एक निरपेक्ष वस्तु बनकर है एवं आत्मा भी यदि निरपेक्ष वस्तु है, तो दो निरपेक्ष वस्तुएं हुई और जिन सब युक्तियों से आत्मा का सर्वव्यापी होना प्रमाणित होगा, वे युक्तियाँ प्रकृति के पक्ष में भी प्रयुक्त हो सकेंगी। इसलिए वह भी समग्र देश- काल-निमित्त के अतीत होगी। प्रकृति यदि इस प्रकार की ही हो, तो उसका किसी प्रकार का परिणाम अथवा विकास नहीं होगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि दो निरपेक्ष अथवा पूर्ण वस्तुएं स्वीकार करनी होती हैं और यह असम्भव है।<sup>3</sup> इस सम्बन्ध में विवेकानन्द वेदान्तवादी का समाधान प्रस्तुत करते हैं। उसका समाधान यह है कि स्थूल जड़ से महत् अथवा बुद्धि तत्त्व तक प्रकृति का समग्र विकार जब अवेतन है, तब जिससे मन चिन्ता कर सके एवं प्रकृति काम कर सके, उसके लिए, उनके परे उनके परिचालक शक्तिस्वरूप एक चैतन्यवाद पुरुष का अस्तत्व स्वीकार करना आवश्यक है। वेदान्ती कहते हैं समग्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् यह चैतन्यवाद पुरुष विद्यमान है, जैसे ही हम ईश्वर कहते हैं, इसलिए यह जगत् उससे पृथक् नहीं है। वह जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वरन् उपादान कारण भी है। कार्य कारण का ही रूपान्तर मात्र है। अतएव यह ईश्वर ही प्रकृति का कारणस्वरूप है। द्वैत, छिंशिष्टाद्वैत अथवा अद्वैत-वेदान्त के जितने विभिन्न रूप अथवा विभाग हैं, सबका यही प्रथम सिद्धान्त है कि ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वह इसका उपादान कारण भी है, जो कुछ जगत् में है, वह सब बही है।<sup>4</sup> वेदान्त की दूसरी सीढ़ी यह है कि ये जो आत्माएं हैं, ये भी ईश्वर के अंशस्वरूप हैं, उसी अनन्त विहन के एक एक स्फुलिंग मात्र अर्थात् “जैसे एक बृहत् अग्नि राशि से सहस्र अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार उस पूरातन पुरुष से ये सब आत्माएं बिहर्गति हुई हैं।”<sup>5</sup> विवेकानन्द इस पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि अनन्त का अंश इन शब्दों का अर्थ क्या है? अनन्त तो अविभाज्य है। अनन्त का कदापि अंश हो नहीं

सकता । पूर्ण वास्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती । तो फिर यह जो कहा गया गया, आत्मा समूह उनसे स्फुलिंग के समान निकले हैं- इन शब्दों का क्या तात्पर्य है १ अद्वैत वेदान्ती इस समस्या की इस प्रकार मीमांसा करते हैं कि वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता । प्रत्येक आत्मा यथार्थ में ब्रह्म का अंश नहीं है, वास्तव में वह अनन्त ब्रह्मस्वरूप है । तब प्रश्न होता है कि इतनी आत्माएं किस प्रकार आयीं १ लाख लाख जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पङ्कर लाख लाख सूर्य के समान दिखाई पड़ रहा है तथा प्रत्येक जलकण में ही क्षुद्र आकार में सूर्य को मूर्ति विद्यमान है । इसी प्रकार ये सब आत्माएं प्रतिबिम्ब रूप हैं, सत्य नहीं हैं । ये वह वास्तविक "मैं" नहीं हूं, जो इस जगत् का ईश्वर है, ब्रह्माण्ड का अविभक्त सत्तास्वरूप है । अतएव ये सब विभिन्न प्राणी, मनुष्य, पशु इत्यादि सब प्रतिबिम्बरूप हैं, सत्य नहीं हैं । ये प्रकृति के ऊपर प्रक्षिप्त मायामय प्रतिबिम्ब मात्र हैं । जगत् में अनन्त पुरुष केवल एक है तथा वही पुरुष, "तुम" "हम" इत्यादि रूप में प्रतीयमान हो रहा है, किन्तु यह भेद प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह विभक्त नहीं होता, विभक्त हुआ ऐसा बोध मात्र होता है । देश-काल- निमित के जाल के भीतर से उसे देखने के कारण यह आपातप्रतीयमान विभाग अथवा भेद हुआ है । हम जब ईश्वर को देश- काल निमित के जाल के भीतर से देखते हैं, तब हम उसको जड़ जगत् के रूप में देखते हैं । जब और कुछ उच्चतर भूमि से, किन्तु उसी जाल के भीतर से उसे देखते हैं, तब उसे पशु के रूप में- और कुछ उच्चतर भूमि से मनुष्य के रूप में और ऊंचे जाने पर देव के रूप में देखते हैं । किन्तु वह ब्रह्माण्ड की एक अनन्त सत्ता है एवं वही सत्ता स्वरूप हम भी हैं । हम भी वह हो- उसके अंश नहीं, समग्र वही ।<sup>6</sup> "वह अनन्त ज्ञाता रूप में समग्र प्रपञ्च के परे छड़ा है, तथा वह समग्र प्रपञ्च स्वरूप है ।" वह विषय विषयी- दोनों ही हैं । वह "हम" वही "तुम" है । इस पर प्रश्न होता है कि यह किस प्रकार हुआ १ ज्ञाता को किस प्रकार जाना जाएगा ।<sup>7</sup> स्वामी विवेकानन्द उत्तर देते हुए कहते हैं कि ज्ञाता अपने को कदापि जान नहीं सकता । मैं सब कुछ देखता हूं, किन्तु अपने को देखा नहीं पाता । वह आत्मा- जो ज्ञाता और सबका प्रभु है, जो प्रकृत

वस्तु है- वही जगत् की समग्र दृष्टि का कारण है, किन्तु अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त अपने को देख अथवा अपने को जान सकना उसके लिए असम्भव है। तुम दर्शक के अतिरिक्त अपना मुँह देख नहीं पाते। इसी प्रकार आत्मा भी प्रतिबिम्बित हुए बिना अपना स्वरूप देख नहीं पाती। इसलिए वह समग्र ब्रह्माण्ड ही आत्मा का निज की उपलब्धि का यत्न स्वरूप है।<sup>8</sup> आत्मा को चर्चा को आगे बढ़ाते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि जीविसार <sup>१२०८०।१९४३</sup> में उसका प्रथम प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसके पश्चात् उद्भिद, पशु आदि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रतिबिम्बकों से, और अन्त में सर्वोत्कृष्ट प्रतिबिम्ब प्रदान करने वाला माईयम- मनुष्य प्राप्त होता है, जैसे कोई मनुष्य अपना मुँह देखने की इच्छा से एक क्षुद्र कीचड़ से युक्त जलाशय में देखने का प्रयत्न करके मुँह की आकृति मात्र देख पाता है। उसके पश्चात् वह कुछ अधिक निर्मल जल में कुछ अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देखता है, उसके पश्चात् उज्ज्वल धातु में उसकी अपेक्षा भी ऐसे प्रतिबिम्ब देखता है अन्त में दर्शक में देखने पर वह स्वतः ठीक ऐसा है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब देखता है। अतएवं विषय और विषयी उभयस्वरूप उसी पूर्ण का सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है- "पूर्ण मानव"<sup>9</sup> आगे विवेकानन्द कहते हैं जोग ईसा- मसीह अथवा ब्रह्म आदि अवतारों की उपासना किया करते हैं। वे अनन्त आत्मा के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशस्वरूप हैं। हम- तुम ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे जो धारणा क्यों न करें, ये उसकी अपेक्षा उच्चतर हैं। एक पूर्ण मानव इन सब धारणाओं की अपेक्षा ऐस्तर है। उसमें ही वृत्त सम्पूर्ण होता है- विषय और विषयी एक हो जाते हैं। उसका सब भ्रम और मोह चला जाता है। इनके स्थान पर उसे यह अनुभूति होती है कि वह चिरकाल से वही पूर्ण पूर्ण के रूप में विद्यमान है।<sup>10</sup>

स्वाभी विवेकानन्द आत्मा के बन्धन के विषय में प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि "यह बन्धन किस प्रकार आया?" इस पूर्ण पूर्ण के पक्ष में अवनत होकर अपूर्ण स्वभाव किस प्रकार सम्भव हुआ? मुक्त के पक्ष में ब्रह्म होना किस प्रकार सम्भव हुआ? अद्वैतवादी कहते हैं, वह किसी कान में ब्रह्म नहीं होता, वह नित्य मुक्त है। आकाश में नाना वर्ण के नाना मेघ आ रहे हैं। वे मुहूर्त भर वहाँ ठहर कर

चले जा रहे हैं। किन्तु वह एक नील बाकाश बराबर समान, भाव से विद्यमान है। बाकाश का कदापि परिवर्तन नहीं होता, मैध का परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार तुम सब भी पहले से पूर्ण हो, अनन्त काल से पूर्ण हो। कुछ भी तुम्हारी प्रकृति को कदापि परिवर्तित कर नहीं सकता, कभी करेगा भी नहीं, यह जो धारणा है कि हम अपूर्ण हैं, हम नर हैं, हम नारी हैं, हम पापी हैं, हम मन हैं, हमने विचार किया है, और करेंगे— यह सब अम मात्र है॥

वेदान्ती कहते हैं कि मृगमरीचिका की भाँति जगद् भ्रान्ति भी एक दिन समाप्त हो जाएगी। यह समग्र ब्रह्माण्ड एक दिन हमारे सामने से बन्ती हृत होगा। इसका नाम ही प्रत्यक्षानुभूति है। दर्शन, केवल बात करने की बात अथवा तमाशा नहीं है। वह प्रत्यक्ष अनुभूत होगा। यह शरीर उड़ जाएगा, यह पृथ्वी एवं और जो कुछ है, सब उड़ जाएगा— हम देह अथवा हम मन हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह कुछ क्षण के लिए चला जाएगा अथवा यदि कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाए, तो एकदम चला जाएगा— फिर लौटकर नहीं आएगा, तथा यदि कर्म का कुछ अंश बैंध रहे, तो जैसा कुम्हार का चाक है हाँड़ी बन जाने पर भी पूर्ण वैग से कुछ क्षण घूमता रहता है, उसी प्रकार माया— मौह सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाने पर भी यह देह कुछ दिन रह जाएगी। यह जगत् नर नारी, प्राणी— सब ही फिर आएगी, किन्तु पहले के समान वे सब, शक्ति विस्तार नहीं कर सकेंगी, कारण साथ— साथ यह ज्ञान भी आएगा कि हमने उनका स्वरूप जान लिया है, तब वे फिर बढ़ नहीं कर सकेंगे, किसी प्रकार का दुःख, कष्ट, शोक फिर आ नहीं सकेगा। जब दुःख कर विषय कुछ आएगा, मन उसे कह सकेगा कि हम ब्रह्म जानते हैं, तुम अम मात्र हो। जब मानव यह अवस्था लाभ करता है, तो उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त का गर्भ है, जीवित अवस्था में ही जो मुक्त है।<sup>12</sup> स्वामी विकेकानन्द जीवन्मुक्त की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत् में अनासक्त होकर वास करते हैं, वे जल के पदम पत्र के समान रहते हैं— जैसे जल में रहने पर भी जल उसे कदापि भिंगो नहीं सकता, उसी प्रकार वे जगत् में निर्जिप्त भाव से रहते हैं।<sup>13</sup>

अतः अद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा ही दुःखों का कारण है।

व्यक्ति सीमित जीवात्मा के कारण अपने को अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता है। जब अज्ञान का आवरण दूर हो जाता है और वह अपने को पहचान लेता है, तो जीवनकाल में ही ऐसे यह अनुभव हो जाता है कि उसमें और संसार में कोई अन्तर नहीं है। कुछ समय के लिए तो ऐसे व्यक्ति के लिए जगत् का नाश हो जाता है और वह समझ लेता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। किन्तु जब तक उसके वर्तमान शरीर का कर्म अवशिष्ट रहता है, तब तक ऐसे जीवन धारण करते रहना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें अविद्या का आवरण तो नष्ट हो चुका होता है, परन्तु शरीर को कुछ अविद्या के लिए रहना पड़ा है। इसे वेदान्ती जीवन्मुक्त कहते हैं। व्यक्ति जब अपने आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिये संसार का मानो लोप हो जाता है। संसार का फिर से प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु अब वह दुःखमय नहीं रह जाता। जो संसार पहले दुःखमय कारागार था, अब वह सच्चिदानन्द हो जाता है। अद्वैत के अनुसार सच्चिदानन्द को अवस्था को प्राप्त करना हो जीवन का अभीष्ट है।

#### माया सम्बन्धी विचार-

नवीन वेदान्त का सारा भवन ही मायावाद पर आकृत है। जगत् एवम् माया के मिथ्यात्व का विचार शांकर वेदान्त का प्रमुख विचार है। शंकराचार्य ने "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" श्लोक- चूडामणि 20४ आदि उक्ति के द्वारा जगत् के सम्बन्ध में मिथ्यात्व- दृष्टि का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि मायावाद के सिद्धान्त को शंकराचार्य ने जिस रूप में स्थापित किया, वह उस रूप में प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। वैद में "माया" शब्द शक्ति के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में "माया" को साँच्य की प्रकृति के लिए प्रयुक्त किया गया है। वेदान्ती के लिए मायावाद एक अनिवार्य बुराई के रूप में दुर्निवार सिद्धान्त बन गया है, इसे स्वयं विवेकानन्द भी स्वीकार करते हैं। एक प्रसंग में उन्होंने कहा- "मायावाद के बिना अद्वैतवाद को किसी भी प्रकार की व्याख्या सम्भव नहीं म"।

परन्तु विवेकानन्द के अनुसार "माया" शब्द का वास्तविक अर्थ वह नहीं है जो शांकर मत वालों को अभिप्रेत है। अतः वे कहते हैं- "वैदिक भाष्मत्य में "माया" शब्द का प्रयोग "कुहक" अर्थ में देखा जाता है। यही माया शब्द का सबसे प्राचीन अर्थ है। किन्तु उस समय यथार्थ मायावाद तत्त्व का उदय नहीं हुआ था।<sup>2</sup> अद्वैतवाद का यह बाध्यारभूत सिद्धान्त "मायावाद" बीज रूप में संहिताओं में भी मिलता है, और जिन विचारों का विकास उपनिषदों में हुआ है, वे किसी न किसी रूप में संहिताओं में विद्यमान हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि लोग आनन्द-क्षण माया को "भ्रम" कहकर उसकी व्याख्या करते हैं। अतएव जब जगत् को माया कहते हैं, तब उसे भी भ्रम ही कह कर उसकी व्याख्या करनी पड़ती है। किन्तु माया को "भ्रम" के अर्थ में लेना ठीक नहीं। माया कोई व्योष सिद्धान्त नहीं है, वह तो यह संसार जैसा है, केवल उसी का तथ्यात्मक कथन है।<sup>3</sup>

स्वामी विवेकानन्द ने "माया" शब्द के प्रयोग के विषय में अपना ऐतिहासिक मन्त्रव्य प्रस्तुतः किया है- "हम वेद में इस प्रकार के वाक्य पाते हैं- "इन्द्रोमायाभिः पुरुषं ईर्यते", अर्थात् इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप धारण किए। यहाँ पर "माया" शब्द इन्द्रजाल अथवा उसी प्रकार के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वेद के अनेक स्थलों में माया शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत देखा जाता है।<sup>4</sup> इसी सम्बन्ध में आगे विवेकानन्द जी कहते हैं कि इसके बाद कुछ समय तक माया शब्द का व्यवहार एकदम लुप्त हो गया। किन्तु इसी बीच उस शब्द द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ या भाव था, वह क्रमशः परिपूर्ण हो रहा था। बाद में एक पुश्ट उठाया गया कि "हम जगत् के इस रहस्य को क्यों नहीं जान पाते?" उसका जो उत्तर दिया गया है, वह बड़ा ही अर्थ गम्भीर है "हम सब थोड़ी बकवास करते हैं। इन्द्रिय सुष्ठुप्ति से ही सन्तुष्ट हैं और वासनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं, इतनिए इस सत्य को हमने मानो कुहरे से ढक रखा है।"<sup>5</sup> यहाँ पर माया शब्द का व्यवहार बिल्कुल नहीं हुआ है, पर उससे यही भाव प्रकट होता है कि हमारी अज्ञता का कारण कुछ कुहरे जैसा है, जो इस सत्य और हमारे बीच आ गया है। इसके बहुत समय बाद, एक अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषद् में माया शब्द पुनः दीख

पड़ा है। पर इस बीच उसका रूप काफी बदल चुका है, उसके साथ कई नए अर्थ संयोजित हो गए हैं। नाना प्रकार के मतवादों का प्रचार हआ, उनकी पुनरुक्ति हई, और अन्त में माया विषयक धारणा ने एक स्थिर रूप प्राप्त कर लिया।<sup>6</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् में- "माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"<sup>7</sup> अर्थात् माया को ही प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर जानो।

शक्तराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक पण्डितों ने इस माया शब्द का विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया है। बौद्धों ने भी मायावाद का उपयोग किया है। किन्तु बौद्धों के हाथों यह बहुत कुछ विज्ञानवाद ॥ Idealism ॥<sup>8</sup> में परिणत हो गया था, और अब माया शब्द को साधारणः यही अर्थ दिया जाता है। हिन्दू लोग जब कहते हैं कि "संसार माया है" तो साधारण मनुष्य के मन में यही भाव उदित होता है कि "संसार भ्रम मात्र है।" इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है, क्योंकि बौद्ध दार्शनिकों की एक श्रेणी के दार्शनिक गण बाह्य जगत् के अस्तित्व में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे। किन्तु विकेन्द्रनन्द के अनुसार "वेदान्त में माया का जो अन्तम निश्चित स्वरूप है, वह न तो विज्ञानवाद है न यथार्थवाद ॥ Realism ॥<sup>9</sup> और न किसी प्रकार का सिद्धान्त ही। वह तो तथ्यों का सहज वर्णन मात्र है- हम क्या हैं और अपने चारों और क्या देखते हैं।<sup>10</sup>

इस जगत् का अस्तित्व नहीं है, "ज्ञात् मिथ्या है" - स्वामी विकेन्द्रनन्द इसके अर्थों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "जगत् का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रिय सम्बन्ध होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है- वह अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता इसकी नहीं है। पर इसको अस्तित्व शून्य या अलृत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

यह तो वर्तमान है और इसमें तथा इसी के माध्यम से हम कार्य करते हैं । यह सत् और असत् का मिश्रण है ॥

विकेक शूद्गामणि में भी माया के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन मिलता है जैसा कि स्वामी विकेकानन्द ने बताया है । "माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभ्य रूप भी नहीं है, वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्न-भिन्न उभ्य रूप है, न अंग सहित है, न अंगरहित है और न उभयात्मका ही है, अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है- वह ऐसी है जो कही न जा सके ।"<sup>12</sup> शंकराचार्य ने "माया" को अव्यक्त नाम वाली परमेश्वरी ज्ञानित कहा है, जो अनादि है, अविद्यारूपा है, सत्त्व, रज, तम गुणों से क्रिगुणमयी है ।<sup>13</sup>

स्वामी विकेकानन्द माया की सरल ढंग से व्याख्या करते हुए आगे लिखते हैं कि "सारा संसार मृत्यु के मुख में चला जा रहा है, सभी मरते जा रहे हैं । हमारी उन्नति, हमारे व्यर्थ के आडम्बरपूर्ण कार्य- कलाप, समाज, संस्कार, विलासिता, ऐश्वर्य, ज्ञान, इन सबकी मृत्यु ही एकमात्र गति है । इससे अधिक निश्चित बात और कुछ नहीं ।..... मृत्यु ही सबका लक्ष्य है ।..... राजा और भिक्षु, दोनों मरते हैं- सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं । फिर भी जीवन के प्रति यह विषम आसक्ति विद्यमान है । हम क्यों इस जीवन से आसक्ति करते हैं? क्यों हम इसका परित्याग नहीं कर पाते? यह हम नहीं जानते । और यही माया है ।"<sup>14</sup>

अतः विकेकानन्द के मत में इस संसार की गति के तथ्यात्मक वर्णन का नाम माया है । माया विश्व की व्याख्या करने के निमित्त कोई सिद्धान्त नहीं है । वह संसार की वस्तु- स्थिति का वर्णन मात्र है । विश्व भाव को विकेकानन्द जी ने व्यक्ति के अस्तित्व की भित्ति कहा है । "सर्वत्र इन्हीं भयानक विश्व भावों में से होकर हम जा रहे हैं । जहाँ शुभ है, वहीं अशुभ भी है; और जहाँ अशुभ है, वहीं अवश्य शुभ है । जहाँ जीवन है, वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है । जो हँस रहा है, उसी को रोना पड़ेगा, और जो रो रहा है, वह भी हँसेगा । यह क्रम बदल नहीं सकता ।"<sup>15</sup>

अतएव विवेकानन्द के अनुसार "वेदान्त दर्शनि आशावादी भी नहीं हैं और निराशावादी भी नहीं। वह तो दोनों ही वादों का प्रचार करता है, सारी धटनाएं जिस रूप में होती है, वह उन्हें बस उसी रूप में ग्रहण करता है, अर्थात् उसके मत से यह संसार शुभ और अशुभ, सुख और दुःख का मिश्रा है, एक को बढ़ाको, तो दूसरा भी साथ-साथ बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दुःख का संसार हो नहीं सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतः विरोधी है। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करके और इस विश्लेषण के द्वारा वेदान्त ने इस महान् रहस्य का भेद किया है कि शुभ और अशुभ, ये दो एकदम विभिन्न पृथक् सत्ताएं नहीं हैं।<sup>16</sup>

इन्द्रिय-विलास, बौद्धिक आनन्द, मानवात्मा का उपभोग्य सब प्रकार का सुख-सभी मिथ्या है—सभी माया के अद्विन हैं। सभी इस संसार के बन्धन के अन्तर्गत हैं, हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। मायावाद, यह कथन कि सब कूछ माया है, इसकी एकमात्र ठीक-ठीक व्याख्या है।<sup>17</sup>

### सृष्टि प्रक्रिया-

भारतीय दर्शन में सृष्टि, उसका प्रयोजन उससे मुक्ति तथा प्रलय के स्वरूप का विवेचन तथा समीक्षण है। इसमें सृष्टि-क्रम के विषय में मत-विभान्नता है। आस्तिक दर्शन में इस क्रम में ईश्वर का योग-दान भी माना है, जबकि निरीश्वरत्वादी दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि का निमाता नहीं कहा गया है।

विवेकानन्द सृष्टि सम्बन्धी चर्चा करते हुए कहते हैं कि "सृष्टि चक्रों या कल्पों में होती है। सम्पूर्ण सृष्टि का आगम और विलय होता है। आरम्भ होने के बाद सृष्टि क्रमाः स्थूलतर रूप लेती जाती है, और एक अपरिमेय अवधि के पश्चात् पुनः सूक्ष्मतर रूप में बदलना शुरू करती है तथा अन्त में विघटित होकर विलीन हो जाती है। इसके बाद विराम का समय आता है। सृष्टि का फिर उद्भव होता है और इसी क्रम की आवृत्ति होती है। वेदान्ती दो तत्त्वों को स्वतः प्रमाणित मानते हैं। एक को "आकाश" कहते हैं, जो

वैज्ञानिकों के "ईथर" से मिलता जुलता है और दूसरे को "प्राण" कहते हैं, जो एक प्रकार की शक्ति है। प्राण के कम्पन से विश्व की उत्पत्ति होती है। जब सृष्टि-चक्र का विराम होता है, तो व्यक्त प्रकृति क्रमशः सूक्ष्मतर होते होते आकाश तत्त्व के रूप में विघटित हो जाती है, जिसे न कोई देख सकता है और न अनुभव ही लगा कर सकता है, किन्तु इसी से पुनः समस्त वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। प्रकृति में जितनी शक्तियाँ दिखाई देती हैं, जैसे गुरुत्वाकर्षण, आकर्षण, विकर्षण अथवा विचार, भावना एवं स्नायिक गति-सभी अन्ततोगत्वा विघटित होकर प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं और प्राण का स्पन्दन रुक जाता है। इस त्रिधृति में वह तब तक रहता है, जब तक सृष्टि का कार्य पुनः प्रारम्भ नहीं हो जाता। ऊपरे प्रारम्भ होते ही "प्राण" में पुनः कम्पन होने लगते हैं। इस कम्पन का प्रभाव "आकाश" पर पड़ता है और तब सभी रूप और आकार एक निश्चित क्रम में बाहर प्रक्षिप्त होते हैं।<sup>1</sup>

इस विषय में आगे विवेकानन्द जी कहते हैं कि "ईश्वर उपादानों के बिना सृष्टि नहीं कर सकता। प्रकृति ही वह उपादान है, जिसे वह समस्त विश्व की रचना करता है। कुछ वेदान्तैर द्वैतवादी जिन्हें "परमाणुवादी" कहते हैं, यह मानते हैं कि प्रकृति असंख्य परमाणुओं के सिवा और कुछ नहीं है और ईश्वर की इच्छा शक्ति इन परमाणुओं में सक्रिय होकर सृष्टि करती है, वेदान्ती लोग इस परमाणु सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि यह नितान्त तर्कहीन है। अविभाज्य परमाणु रेखागणित के बिन्दुओं की तरह है; छण्ड और परिमाण रहित। किन्तु ऐसी छण्ड और परिमाण रहित वस्तु को अगर असंख्य बार गुणित किया जाए, तो भी वह ज्यों की त्यों रहेगी। फिर, कोई वस्तु, जिसके अवयव नहीं, ऐसी वस्तु का निमाणि नहीं कर सकती, जिसके विभिन्न अवयव हों। चाहे जिसे भी शून्य इकठ्ठे किए जाएं, उनसे कोई पूर्ण संख्या नहीं बन सकती। इसलिए अगर ये परमाणु अविभाज्य हैं तथा परिमाण-रहित हैं, तो इनसे विश्व की सृष्टि सर्वथा असम्भव है। अतएव वेदान्ती द्वैत-वादी अविश्लेष एवं अविभैष्य प्रकृति में विश्वास करते हैं, जिसे ईश्वर सृष्टि की रचना करता है।<sup>2</sup>

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार तो सारा विश्व स्वयं ईश्वर ही है। विश्व के लिए वही उपादान है। वेदों में कहा गया है, जिस तरह ऊर्जाभूमि की अपने ही शरीर से तन्तुओं को निकालता है, उसी तरह यह सारा विश्व भी ईश्वर से प्रादृश्यत हुआ है।<sup>3</sup>

विवेकानन्द विशिष्टाद्वैतवादी से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि कार्यात्मक कारण का ही दूसरा रूप है तो ईश्वर, जो चेतन और शाश्वत ज्ञानस्वरूप है, किस तरह इस भौतिक, स्थूल और अवेतन जगत् का कारण हो सकता है? अगर कारण परम शुद्ध और पूर्व हो तो कार्यात्मक कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द ने विशिष्टाद्वैतवादी का यह मत प्रस्तुत किया है कि "ईश्वर, प्रकृति एवं आत्मा एक है। ईश्वर मानो जीव है और प्रकृति तथा आत्मा उनके शरीर है। जिस तरह मेरे एक शरीर है तथा एक आत्मा है, ठीक उसी तरह सम्पूर्ण विश्व एवं सारी आत्मा ईश्वर के शरीर है और ईश्वर सारी आत्माओं की आत्मा है। इस तरह ईश्वर विश्व का उपादान कारण है। शरीर परिवर्तित हो सकता है- तस्य या वृद्ध, सबल या दुर्बल हो सकता है- किन्तु इससे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ही शाश्वत सत्ता शरीर के आध्यम से सदा अभिव्यक्त होती है। शरीर आता जाता रह सकता है, पर आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होती। ठीक इसी तरह समस्त जगत् ईश्वर का शरीर है और इस दृष्टि से वह ईश्वर ही है, किन्तु जगत् में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे ईश्वर प्रभावित नहीं होता। जगदूपी उपादान से वह सृष्टि करता है और हर कल्प के अन्त में उसका शरीर सूक्ष्म होता है, वह संकुचित होता है, फिर परखती कल्प के प्रारम्भ में वह विस्तृत होने लगता है और उससे विभिन्न जगत् निकलते हैं।<sup>4</sup>

सृष्टि सम्बन्धी अद्वैतवाद का मत प्रस्तुत करने के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द साँच्य में प्रतिपादित सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साँच्य दर्शन समस्त विश्व के दर्शन का आधार है। विश्व में कोई भी ऐसा दर्शन

नहीं है, जो कपिल का श्रृणी न हो। कपिल का सांख्य दर्शन ही विश्व का सर्वप्रथम ऐसा दर्शन है, जिसने युक्तियुक्त पद्धति से जगत् के सम्बन्ध में विचार किया है, विश्व के प्रत्येक तत्त्ववादी को उनके प्रति शब्दांजलि अधिकैति करनी चाहिए।

सांख्य दार्शनिकों ने प्रकृति को अव्यक्त कहा है और उसकी परिभाषा उसके अन्तर्गत समस्त उपादानों की साम्यावस्था के रूप में की है। इससे स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण साम्यावस्था में किसी प्रकार की गति नहीं हो सकती। आद्य अवस्था में, किसी अभिव्यक्ति के पूर्व जब कि कोई गति नहीं थी, अपितु पूर्ण साम्यावस्था थी, यह प्रकृति अविनाशी थी, क्योंकि विघटन अथवा विनाश अस्थिरता अथवा परिवर्तन से ही होता है। सांख्य का यह भी मत है कि परमाणु आदिम अवस्था के रूप नहीं है। इस जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से नहीं होती; वे दूसरी या तीसरी अवस्था हो सकते हैं। सम्भव है कि आद्यतन पदार्थ परमाणुओं का रूप धारण कर स्थूलतर होता हुआ विशालतर वस्तुओं में परिणत हो जाता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति सर्वव्यापी है। वह एक सर्वव्यापी जड़ राशि स्वरूप है, जिसमें इस जगत् की समस्त वस्तुओं के कारण विद्यमान है।<sup>5</sup> कारण का तात्पर्य समझाते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि कारण व्यक्त अवस्था की सूक्ष्म दशा है— उस वस्तु की अनभिव्यक्त अवस्था, जो अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। आगे विनाश का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि कारण में प्रत्यावर्तन का नाम विनाश है। यदि तुम्हारे पास मिट्टी का कोई बर्तन है और तुम उस पर आधात करो, तो वह बिनष्ट हो जाएगा। इसका तात्पर्य यह है कि कार्योंका उसके मूल स्वरूप में प्रत्यावर्तन हो जाता है, जिन उपादानों से बर्तन बना था, वे अपने मूल रूप में लौट जाते हैं।<sup>6</sup>

ब्रह्माण्ड में इस प्रकृति की प्रथम अभिव्यक्ति सांख्य के शब्दों में “महत्” है।<sup>7</sup> हम इसे बुद्धि कह सकते हैं। प्रकृति में जो प्रथम परिवर्तन हुआ उससे बुद्धि की उत्पत्ति हई। लक्ष्मण लक्ष्मणलक्ष्मण लक्ष्मण लक्ष्मण लक्ष्मण लक्ष्मण

महत् से सर्वव्यापी अहं तत्त्व की उत्पत्ति हुई है। अहं तत्त्व दो रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसका एक रूप इन्द्रियों में परिवर्तित हो जाता है। इन्द्रियों दो प्रकार की होती है। सैदना की इन्द्रियाँ और प्रतिक्रिया करने वाली इन्द्रियाँ। ये आँख और कान नहीं हैं, बल्कि इनके पृष्ठ भाग हैं, जिन्हें मिस्त्रक-केन्द्र और स्नायुकेन्द्र आदि कहा जाता है। यह अहं तत्त्व, यह पदार्थ या द्रव्य परिवर्तित हो जाता है और इस पदार्थ से ये केन्द्र निर्मित होते हैं। इसी द्रव्य से अन्य प्रकारों- तन्मात्राओं, पदार्थ के सूक्ष्म कणों का निर्माण होता है, जो प्रत्यक्ष करने वाली हमारी इन्द्रियों पर आधार करते हैं और सैदना उत्पन्न होती है। तन्मात्राओं से स्थूल पदार्थ क्षिति, जल तथा उन सब वस्तुओं का, जिन्हें हम देखते और अनुभव करते हैं, निर्माण होता है। पदार्थ के इस सर्वव्यापी विस्तार, अच्छण ड एक द्रव्य, अविभक्त की कल्पना करो, जो प्रत्येक वस्तु की प्रथम अवस्था है और उसी प्रकार परिवर्तित होने लगता है, जिस प्रकार दूध परिवर्तित होकर दही बन जाता है। इस प्रथम परिवर्तन को महत् कहा जाता है। महत् पदार्थ स्थूलतर पदार्थ में, जिसे अहं- तत्त्व कहते हैं। परिवर्तित हो जाता है। तीसरा परिवर्तन सार्वभौम सैदक इन्द्रियों तथा सार्वभौम तन्मात्राओं के रूप में अभिव्यक्त होता है और ये अन्तिम वस्तुएँ पुनः संयुक्त होकर इस स्थूल जगत् में, जिसे हम अपनी आँख, नाक तथा कान से देखते, सूंघते और सुनते हैं, परिणत हो जाती हैं। सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड का यही विधान है।<sup>8</sup>

#### भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विविध सौपान-

स्वामी विवेकानन्द ने भारत के दार्शनिक चिन्तन को निरन्तर विकास की ओर बढ़ाया हुआ एक प्रवह्मान् धारा के रुल्य माना है। वस्तुतः दशन का उद्भव ही मनुष्य की जिज्ञासा वृत्त से होता है। जब वह स्वयं को, अपने आसपास के परिदृश्य को तथा वस्तु जगत् में घटने वाली घटनाओं को देखता है तो

वह इन समस्त के कारण की जिज्ञासा करता है। विश्व- प्रपञ्च की पहेली का सबसे सोधा और सरल समाधान एक ऐसे सर्वशक्तिमान् ईश्वर को मानना है जो इपनी इच्छा से ही इस संसार को बनाता है और अपनी इच्छा से ही उसे नष्ट भी कर देता है। इस धारणा में यह अभिपुराय भी निहित रहता है कि बिना किसी भाव पदार्थ के ईश्वर इस भावमय जगत् को बना लेता है। सेमेटिक धर्मों में ईश्वर की कल्पना बहुत कुछ इसी ढंग की है। यहाँ ईश्वर को अभाव से भाव को पैदा करते और शून्य से सब कुछ बनाते हुए माना गया है। परन्तु उच्चतर भारतीय दर्शन अभाव से भाव का उत्पन्न होना नहीं मानते। इसीलिए उपनिषद् में शंका की गई है कि अस्त् से स्त् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। आगे चलकर जब सौंहिय दर्शन का प्रकर्त्तन हुआ तो उसने अस्त् से स्त् के उत्पन्न होने का पूर्णतः प्रत्याख्यान किया। वहाँ यह माना गया कि वस्तुतः संसार का उपादान कारण जड़ प्रकृति है, जिसे अव्यक्त या प्रधान कहा गया है। परन्तु इसी प्रकृति को गति देने वाला "पूर्ण" स्वयं चेतन है।

भारत के अधिकांश भक्तिवादी दार्शनिक इसी द्वेत धारणा को लेकर चलते हैं। उपासना की दृष्टि से श्री ईश्वर और जीव के भेद को मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन यही समाप्त नहीं होता, वह एक और उच्चतर सीढ़ी पर चढ़कर चरम तत्त्व को एकता का प्रतिपादन करता है। अद्वैतवादियों का विचार है कि यदि ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्त्वों को भी अनादि, असीम और अनन्त मान लिया जाए तब तो एक विचित्र परिस्थिति बन जाएगी। अतः वह ईश्वर को संसार का अभिन्न निमित्तोपादन कारण मानता है, और प्रकृति को माया कहकर उसकी पात्रमार्थिक सत्ता से इन्कार करता है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न सोपानों का निर्धारण कर भारतीय दर्शन के सुचिनित विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पुछयात दार्शनिक रामकृष्ण परमहंस एवम् स्वामी विवेकानन्द ने परम्परागत अद्वैत दर्शन को ठीक उसी रूप में ग्रहण करके उसे एक व्यावहारिक एवं नवीन रूप प्रदान किया है। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी बौद्धिक तर्कज्ञानी एवम् जीवन दर्शन का युग है। इसलिए इस युग काल में सामान्यतया उत्तरोत्तर अध्यात्म दर्शन को महत्व न देकर जीवन दर्शन का ही अधिक महत्व स्वीकार किया गया है। अतः इस युग में ऐसे दार्शनिकों की अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है जो अध्यात्म दर्शन एवम् जीवन दर्शन का समन्वयात्मक निरूपण कर सके। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में यही कार्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवम् विवेकानन्द द्वारा सम्पन्न हुआ है। यद्यपि इन दार्शनिकों की विचार दृष्टियों के पृष्ठाधार रूप अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जीवन दर्शन एवम् व्यावहारिक दर्शन के तत्त्व निश्चित रूप में मिलते हैं, परन्तु उपर्युक्त दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के आत्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वय तथा विकास नवीन प्रकार एवम् नवीन तर्कों के आधार पर किया है। अतः इन दार्शनिकों के अद्वैतवादी होने पर भी इनके अद्वैतवाद का स्वरूप शाँकर अद्वैतवाद से कुछ भिन्न हो गया है।

----

### विवेकानन्द-

1. भारतीय नवजागरण : पुणेता तथा आनंदौलन पृ. 159 पर उद्धृत ।
2. जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आए तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया । एक बार रामकृष्ण ने कहा था कि जिस शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशव जगद्विषयात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में "पूर्ण उत्कर्ष है । स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो । मझे मालूम है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवों की दर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीरधारण करके आया है" दिनकर, संख्यात्तम के चार अध्याय, पृ. 509.
3. व्यास, के.सी. सोशल रिनासाँ इन इण्ड्या । पृ. 99.
4. भारतीय नवजागरण : वही पृ. 155 पर उद्धृत ।
5. वही- पृ. 155.
6. वही- पृ. 156.
7. वही- पृ. 160.

### शास्त्र प्रमाणवाद-

1. भारत में विवेकानन्द पृ. 25.
2. वही- पृ. 175.
3. "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।  
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यज्ञस्तस्मादजायत ।" यजु. 31.7.
4. निरुक्तकार महर्षि यात्क ने "ऋषि" शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है-  
"ऋषिदर्शनात् स्तोमान् ददर्शत्यैपमन्यवः" । 2.11.
5. भारत में विवेकानन्द पृ. 25, 26.
6. पत्राबली भाग- 2, पृ. 187.
7. भारत में विवेकानन्द- पृ. 412.
8. मनुस्मृति पर कुल्लूकभट्ट की टीका- 2.13.

9. जाति, संस्कृति और समाजवाद, पृ. 17.
10. स्वामी विवेकानन्द से वातार्लाप, पृ. 64.
11. वही- पृ. 64.
12. भारत में विवेकानन्द, पृ. 95.
13. वही- पृ. 95.
14. वहो- पृ. 174.
15. वही- पृ. 316.
16. वही- पृ. 495.
17. वहो- पृ. 495.
18. वही- पृ. 202.
19. स्वामी विवेकानन्द से वातार्लाप- पृ. 48.
20. चिन्तनीय बातें पृ. 56.
21. वही- पृ. 13.
22. ज्ञानयोग पृ. 272.

#### ईश्वर विषयक मान्यताएँ-

1. भारत में विवेकानन्द पृ. 320.
2. जन्माधस्य यतः । ब्र. सू. १०१०२.
3. स ईश्वर अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः ।
4. विवेकानन्द साहित्य जन्मशती संस्करण चतुर्थ खण्ड भृभिक्तयोगः पृ. ९.
5. ब्र. सू. भा. १०२०४.
6. जगद्गुणापारम् प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥  
ब्र. सू. ४०४०१७.
7. स्वामी विवेकानन्द ने इस श्लोक की चतुर्मात्र की है  
लेकिन कुम संख्या का उल्लेख नहीं किया ।
8. मुण्डोः ३०१०३०.
9. तैसिं० उप० भृगुबल्ली , प्रथम अनुवाकः ।

10. द्वान्दोर्योपनिषद् — ६. २. १, ३.

11. बृहदारण्यकोपनिषद् — १. ५. ११.

12. ब्र० सू० रामानुज भाष्य । ४० ४० १७०

13. वही : ४. ४. १७.

14. विवेकानन्द साहित्य जन्मशती संस्करण अष्टम खण्ड, पृ० ८३.

15. ज्ञानयोग पृ० ३६.

16.

### आत्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण-

1. कठो० २० २३०

2. विवेकानन्द साहित्य जन्मशती संस्करण अष्टम खण्ड पृ० ६७०

3. वही- पृ० : ६७

4. वही- पृ० ; ६८

5. यथा सदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्राः प्रभवन्ते सूर्पाः ।  
तथाक्षराद् विक्ष्याः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।  
मुण्ड्हो० २० १० १०

6. वही पृ० - ६४.

7. विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । बृहदा० ५० १५०

8. वही- पृ० ६९

9. वही- पृ० ६९

10. वही- पृ० ७००

11. वही- पृ. 70-

12. वही- पृ. 71-

13. वही- पृ. 72-

### माया सम्बन्धी विचार-

1. स्वामी विवेकानन्द से वातालाप, पृ. 113.

2. ज्ञानयोग पृ. 8, शुलन्दन में दिया गया एक भाषणः

3. विवेकानन्द साहित्य द्वितीय छंड पृ. 60.

4. वही- पृ. 43.

5. नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासशवरन्तः ।  
शृ. 10.82.07.

6. वही- पृ. 43.

7. श्वेताश्वतरोऽ - ५/१०

8. हमारी इन्द्रियों से ग्राह्य सारा जगत् हमारे मन की ही विभिन्न अनुभूति मात्र है, ऊसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, इस मत को विज्ञानवाद या Idealism कहते हैं।

9. जगत् हमारे मन की अनुभूति मात्र नहीं है, वरन् ऊसकी यथार्थ सत्ता है, इस मत को यथार्थवाद या Realism कहते हैं।

10. वही- पृ. 44.

11. वही- पृ. 46.

12. सन्नाप्यसन्नाऽप्युभ्यात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नेत्युभ्यात्मिका नो ।  
सांगाप्यनैगाप्युभ्यात्मिका नो महादभुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥  
विवेक चूडामणि, श्लोक 111.

13. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरत्नाद्यक्षिणा क्रिगुणात्मिका या ।  
विवेक चूडामणि, श्लोक 110.

14. वही- पृ. 47.

15. वही- पृ. 52.

16. वहो- पृ. 53.

17. वही- पृ. 55.

### सूचिट प्रक्रिया-

1. विवेकानन्द साहित्य जन्मशती संस्करण द्वितीय छण ड, पृ. 203-204.

2. वही- पृ. 204.

3. मुण्डको० - १.१.७

4. वही- पृ. 209.

5. वही चतुर्थ छण ड पृ. 201.

6. वही- पृ. 201- 202.

7. प्रकृतेमर्हा॑स्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात्पैच्यः षंवभूतानि ।

सां. का० — २२

8. वही- पृ. — २०३.